264

॥ श्रीहरिः ॥

मनुष्यजीवनकी सफलता

(भाग-१)



जयदयाल गोयन्दका

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१३ से २०५० तक	१,४७,२५०
सं० २०५२ सोलहवाँ संस्करण	५,०००
योग	१,५२,२५०

मूल्य—पाँच रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : ३३४७२१

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नम्र निवेदन

'कल्याण'के अधिकांश २८वें और २९वें वर्षमें प्रकाशित मेरे लेखोंको संशोधन करके इस पुस्तकमें संगृहीत किया गया है। इनमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक, धार्मिक, पारमार्थिक आदि उन्नतिका विषय भी दिया गया है, जो मनुष्यमात्रके लिये लाभदायक है तथा स्त्रियोंको घरवालोंके साथ परस्पर किस प्रकार त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये, यह भी बताया गया है। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार और मन-इन्द्रियोंके संयमकी बातें तो कल्याणकामी पुरुषके लिये इसमें पर्याप्त हैं। उत्तम गुण, उत्तम भाव, सत्पुरुषोंके सङ्ग, महिमा, गुण, प्रभाव एवं गीता-रामायण आदि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंके स्वाध्याय आदिकी बातें भी लिखी हैं। दुःखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा करनेसे मनुष्यकी शीघ्र उन्नति हो सकती है तथा गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये, यह भी बताया है। ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास करनेसे शीघ्र कल्याण होनेकी बात बतायी गयी है। ईश्वरभक्ति-विषयमें गीताका तात्त्विक विवेचन भी किया गया है एवं भाइयोंको परस्पर किस प्रकार प्रेम-व्यवहार करना चाहिये, यह भी दिखाया गया है।

कोई भी भाई या माता-बहिनें इसे पढ़कर लाभ उठावें, उनका मैं आभारी हूँ। पुस्तकमें त्रुटियाँ रहनी स्वाभाविक हैं, अतः इसमें जो भी त्रुटियाँ रही हों, उनके लिये विज्ञजन क्षमा करें और मुझे सूचना देनेकी कृपा करें।

निवेदक

जयदयाल गोयन्दका

नोट—प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंके सुविधार्थ सम्वत् २०४८ से अपने पूर्वनामसे ही दो भागोंमें विभक्त कर दी गयी है।

''अभ्यास ऐसा तेज करना चाहिये कि जिसमें अपने शरीरका ज्ञान भी न रहे। भगवान्‌के स्वयं साकार स्वरूपमें आकर चेत करानेपर भी शरीरका ज्ञान न हो, जैसे श्रीसुतीक्ष्ण मुनिको भगवान् श्रीरामचन्द्रके द्वारा जगाये जानेपर भी शरीरका ज्ञान नहीं हुआ था।''

''ऐसी स्थिति शीघ्र प्राप्त करनेके लिये किसी बातकी भी परवाह न कर हर समय कटिबद्ध रहना चाहिये।''

''मनुष्यको समयकी कीमत जाननी चाहिये, समय प्रतिक्षण घट रहा है। मनुष्य-शरीरका समय अमूल्य है। इसे भजन, ध्यान, सत्सङ्गरूप अमूल्य कामोंमें ही लगाना चाहिये। जिनका समय केवल पेट पालनेमें ही जाता है वे तो महान् पशु हैं।''

''संसारका काम करते हुए उस कामका बुरा मालूम होना केवल वैराग्य नहीं है। इसमें हरामीपन भी है। यदि केवल वैराग्य होता तो संसारका कुछ भी काम न करनेके समय निरन्तर भजन-ध्यान ही हुआ करता।''

''खाना, पीना, चलना, फिरना, बोलना आदि सांसारिक कार्य तो बेगार हैं, जबरदस्ती करने पड़ते हैं, अपना निजका कार्य तो केवल एक भगवत्स्मरण ही है, जो हर समय करना चाहिये।''

''फलासक्ति छोड़कर मालिकके लिये जो कुछ भी कार्य किया जाता है, वह उसका भजन ही है (चाहे उसमें नाम-स्मरण न हो) इस भूलको भूल नहीं समझना चाहिये।''

''जबतक भजन-ध्यानमें कठिनता प्रतीत होती है तबतक विश्वासकी त्रुटि है। वास्तवमें भजन-ध्यानमें कोई परिश्रम नहीं है।''

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

शास्त्रोंका अवलोकन और महापुरुषोंके वचनोंका श्रवण करके मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके समान कल्याणके लिये कोई भी उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। गीतामें ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, आदि जितने भी साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार करनेसे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त साधनोंका तथा परमात्माका तत्त्व रहस्य जाननेके लिये महापुरुषोंका और उनके अभावमें उच्चकोटिके साधकोंका संग, नियमपूर्वक [illegible] विशेष अध्ययन रखते हुए गीताका अर्थ और भाव सहित मनन करना चाहिये। उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये प्राण पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निवेदक—

कार्तिक कृष्ण [illegible] — जयदयाल गोयन्दका।

[illegible]

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

——::×::——

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मनुष्य-जीवनकी सफलता

श्रीनारद और श्रीविष्णुपुराणके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

श्रीबृहन्नारदीयपुराण अथवा श्रीनारदपुराणके नामसे जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिके अतिरिक्त प्रायः सभीमें लगभग ४२ अध्याय ही मिलते हैं। ये अध्याय श्रीवेङ्कटेश्वर-प्रेसकी प्रतिमें भी ग्रन्थके आरम्भसे ही कुछ साधारण पाठ-भेदके साथ ज्यों-के-त्यों आये हैं। अन्यान्य कुछ प्रतियोंमें वक्ता नारद हैं पर इसमें नारद प्रश्नकर्ता हैं और वक्ता सनकादि हैं। इस नारदपुराणमें वर्णित पुराण-विषय-सूचीके अनुसार यह पचीस हजार श्लोकोंका बताया गया है, परंतु श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी मुद्रित प्रतिमें भी पचीस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस नारदपुराणके पूर्वभागमें श्रीसनकादि मुनियोंके द्वारा श्रीनारदजीके प्रति अनेकों प्रकारके उपदेश दिये गये हैं, जिसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, उपासना आदि आध्यात्मिक विषय तो प्रचुर मात्रामें हैं ही, साथ ही वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष (गणित, जातक, संहिता) और छन्द इत्यादि लौकिक ज्ञानके सम्बन्धमें भी संक्षेपमें बड़ा ही सारगर्भित तथा उपयोगी विवेचन है। उसमें बहुत-सी बातें सीखनेयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

नारदपुराणके पूर्वभागके सातवें अध्यायमें गङ्गावतरणके प्रसङ्गमें श्रीसनकजीने सूर्यवंशीय राजा बाहुका एक विचित्र चमत्कारपूर्ण इतिहास कहा है। उसमें अध्यात्मशिक्षाके साथ ही सत्सङ्गका भी बड़ा सुन्दर

प्रकरण है। इस प्रसङ्गमें सत्पुरुषोंकी जैसी अतुलनीय महिमा मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। यह प्रसङ्ग सबके लिये ध्यान देने योग्य है।

राजा बाहु अपने धर्माचरणके प्रभावसे परम ऐश्वर्यसम्पन्न हो गये थे; किंतु एक समय उनके मनमें असूयादोषके कारण बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये; तब हैहय और तालजङ्घ-कुलके क्षत्रिय उनके शत्रु बन गये तथा उन्होंने आक्रमण करके राजाको युद्धमें परास्त कर दिया। राजा अत्यन्त दुःखी होकर अपनी गर्भवती पत्नीके साथ वनमें चले गये। बहुत समय बीतनेके बाद वनमें ही और्व मुनिके आश्रमके निकट रोगग्रस्त होकर राजा बाहु संसारसे चल बसे, तब गर्भवती होनेपर भी उनकी पत्नीने चितापर पतिके साथ जलकर सती होनेका विचार किया । इसी बीचमें परम बुद्धिमान् महान् तेजोनिधि महात्मा और्व मुनि वहाँ आ पहुँचे और रानीको चितापर चढ़नेके लिये उद्यत देख उन्होंने बड़े सौम्य शब्दोंमें समझाते हुए कहा—'राजपुत्री ! तू निश्चय ही पतिव्रता है, किंतु चितापर चढ़नेका साहसपूर्ण कार्य न कर; क्योंकि तेरे गर्भमें चक्रवर्ती बालक है तथा गर्भवती नारीके लिये चितारोहणका निषेध है।'

और्व मुनिके समझानेपर पतिव्रता रानी चितारोहणसे निवृत्त हो गयी और पतिके चरणोंमें पड़कर विलाप करने लगी; तब सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महात्मा और्वने रानीसे कहा—'महाभागे ! तू रो मत, इस समय तुझे अपने स्वामीके मृतक शरीरका दाह-संस्कार करना उचित है; अतः शोक त्यागकर समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी— सबपर मृत्युकी समान दृष्टि है। नगरमें हो या वनमें, जिस जीवने जो कर्म किया

है, उसे उसका फल-भोग अवश्य करना पड़ता है। जैसे दुःख बिना ही बुलाये प्राणियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं—ऐसा मेरा मत है। इस विषयमें प्रारब्ध ही प्रबल है। अतः तू इस दुःखको त्याग दे और विवेकके द्वारा धैर्य धारण करके सुखी हो जा।'

यों कहकर मुनिने उसके द्वारा दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाये। फिर रानीने शोक त्याग दिया और मुनीश्वरको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप-जैसे संत दूसरोंकी भलाईकी ही अभिलाषा रखते हैं—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंकी प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है, वह नररूपधारी जगदीश्वर नारायण ही है। संत पुरुष दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये शास्त्र सुनते हैं और अवसर आनेपर सबका दुःख दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंके वचन कहते हैं। जहाँ संत रहते हैं, वहाँ वैसे ही दुःख नहीं सताता, जैसे सूर्यके रहनेके स्थानमें अन्धकार नहीं रह सकता।'

तदनन्तर रानीने वहाँ तालाबके किनारे विधिपूर्वक पतिकी अन्यान्य पारलौकिक क्रियाएँ कीं—तिलाञ्जलि आदि दीं। उस समय वहाँ महात्मा और्व मुनिके उपस्थित रहनेके कारण एक बड़ी अद्भुत घटना घटित हुई। राजा बाहु महान् तेजसे प्रकाशित दिव्यरूप होकर चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मुनीश्वर और्वको प्रणाम करके परम धामको चले गये। महान् पुरुषोंके ऐसे अद्भुत प्रभावका वर्णन करते हुए श्रीसनकजी कहते हैं—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(ना० पूर्व० [illegible])

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृतक शरीरको, शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह मृतक मनुष्य परम गतिको प्राप्त हो जाता है।' महापुरुषोंकी महिमाका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु !

फिर, पतिका श्राद्धकर्म करनेके बाद रानी और्व मुनिके आश्रमपर चली गयी और समयपर इसी छोटी रानीके गर्भसे पुराणप्रसिद्ध राजा सगरकी उत्पत्ति हुई।

श्रीनारदपुराणके उत्तरभागमें महर्षि वसिष्ठजीने नृपश्रेष्ठ मान्धाताके प्रति प्रधानतया एकादशी-व्रत और विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया है। वहाँ एकादशीके माहात्म्य-वर्णनमें विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गदका बड़ा सुन्दर अत्यन्त विचित्र इतिहास है। वे सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा थे। वे भगवद्भक्त तो थे ही, सदा एकादशी-व्रतके पालनमें तत्पर रहते थे। वे एकादशीके दिन हाथीपर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि 'आज एकादशी तिथि है। आजके दिन आठ वर्षसे अधिक और पचासी वर्षसे कम आयुवाला जो मन्दबुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह कोई भी क्यों न हो, दण्डनीय होगा अथवा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया जायगा।' राजाके इस प्रकार घोषणा करानेपर सब लोग एकादशी-व्रत करके भगवान् विष्णुके परम धाममें जाने लगे। यों उस चक्रवर्ती राजाके राज्यमें जो लोग भी मृत्युको प्राप्त होते थे, वे पातकशून्य होकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते थे। पापियोंके अभावसे यातना प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण नरक सूने हो गये, यमराजका विभाग सर्वथा कार्यरहित हो गया।

इनसे भी बढ़कर कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए हैं, जिनका सारे भूमण्डलपर शासन था। उनके विषयमें स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डमें इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वे महान् विष्णुभक्त थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनकी भक्ति और पुण्यके प्रभावसे यमराजके यहाँ जो पहलेके प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परमगतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये प्राणियोंका यमलोकमें जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक बिलकुल सूना हो गया। तब यमराजने जाकर ब्रह्माजीसे कहा। ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर श्रीविष्णुभगवान्के पास गये। दोनोंने भगवान्को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्के प्रभावसे सब मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त हो रहे हैं, इससे यमलोक सूना हो गया है।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा— 'जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें तन्मय हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ? राजा कीर्तिमान्को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष बीत चुके हैं। शेष आयु और बीत जानेपर उन्हें मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। जबतक ये धर्मात्मा भक्त राजा कीर्तिमान् जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा; परंतु संसारमें सदा ऐसा चलता नहीं।'

ऐसे-ऐसे महान् पुण्यवान् तथा तेजस्वी श्रेष्ठ राजा हमारे इस भारतवर्षमें हो चुके हैं। जबतक इस पृथ्वीपर राजा कीर्तिमान् रहे, तबतक सभी मनुष्योंका उद्धार होता रहा, कोई भी यमलोकमें नहीं गया; किंतु फिर भी सब जीवोंका उद्धार नहीं हुआ। पर जब उद्धारका

मार्ग खुला है और एक जीवका भी कल्याण होता है; तब सब जीवोंका भी कल्याण हो ही सकता है, यह न्याय है। सबके कल्याणके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके सुन्दर वाक्य भी मिलते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।*
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी दुःखका भागी न बने।'

यदि सबके कल्याणकी बात असम्भव होती तो ऐसे वाक्य क्योंकर कहे जाते। यदि कहें कि 'जब सबका कल्याण आजतक नहीं हुआ तो अब कैसे हो सकता है।' तो ऐसा कथन नहीं बनता; क्योंकि जब एकका कल्याण हो सकता है, तब हजारका भी हो सकता है, लाखका भी हो सकता है एवं सबका भी हो सकता है; यह न्याययुक्त और युक्तिसङ्गत बात है। इसका विरोध नहीं किया जा सकता। एक मनुष्य लाखों-करोड़ों जन्मोंसे संसार-चक्रमें भटकता हुआ आ रहा है, उसकी मुक्ति आजतक नहीं हुई, तो भी साधन करनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है; क्योंकि साधनद्वारा मुक्ति होती है, इस विषयमें सभी शास्त्र सहमत हैं। फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'लाखों-करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अभीतक सबकी मुक्ति नहीं हुई तो अब भी नहीं हो सकती।' हमारा यह कथन अयुक्त और शास्त्रविरुद्ध होगा; क्योंकि यदि मुक्ति

---

* श्रीगरुडपुराणमें यह श्लोक इस प्रकार मिलता है—

सर्वेषां मङ्गलं भूयात्सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

(उत्तरखण्ड ३५।५१)

****

नहीं होती तो उसके लिये लोग प्रयत्न क्यों करते तथा शास्त्रोंमें जो भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंद्वारा मुक्ति बतलायी गयी है, वह भी अप्रमाणित होती; फिर ऐसे अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव, वामदेव, अम्बरीष आदि अनेक पुरुष मुक्त हुए हैं। इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक पुरुष मुक्त हो सकता है, तब हज़ारों, लाखों, करोड़ों भी मुक्त हो सकते हैं। इस न्यायसे सभी मुक्त हो सकते हैं। अतः जो बात आजतक नहीं हुई, वह भविष्यमें नहीं हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है।

आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि सबका कल्याण नहीं हो सकता, तब फिर सबका कल्याण नहीं हो सकता—ऐसा हम किस आधारपर मानें। यदि कहें कि 'जब राजा कीर्तिमान्-जैसे धर्मात्मा भक्त भी सबका उद्धार नहीं कर सके तो दूसरा कौन कर सकता है?' तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यह तो शास्त्रमें कहीं नहीं कहा गया कि जो कार्य राजा कीर्तिमान् नहीं कर सके, वह दूसरेके द्वारा भी नहीं हो सकेगा। यदि कीर्तिमान्से भी बढ़कर परम दयालु, परम उदार, निष्कामी प्रेमी भक्त हों तो सबका उद्धार हो सकता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक निष्कामी प्रेमी भगवद्भक्त था। उसकी भक्तिके प्रभावसे भगवान्ने उसको प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो।' भक्तने उत्तर दिया—'मुझे किसी बातकी इच्छा नहीं है।' फिर भगवान्ने बार-बार आग्रह किया—'तुम्हें कोई इच्छा नहीं है, तब भी हमारे संतोषके लिये तुम्हारी इच्छा हो वही वर माँग सकते हो।' विशेष आग्रह करनेपर भक्तने कहा—'प्रभो! ऐसी ही बात है तो जीवमात्रका उद्धार कर दीजिये।' भगवान्ने कहा—'सबके

पाप समाप्त हुए बिना सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। इनके पापोंको कौन भोगेगा ?' भक्त बोला—'प्रभो ! सबके पापोंका दण्ड मैं अकेला भोग लूँगा। आप सबको मुक्त कर दीजिये।' भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम मेरे भक्त हो; इसलिये सबके पापोंका फल तुमको कैसे भुगताया जा सकता है ?' भक्तने कहा—'ऐसा न करें तो सबके पापोंको माफ कर दीजिये।' भगवान् बोले—'ऐसा सम्भव नहीं है।' भक्तने कहा—'असम्भव भी तो नहीं है, क्योंकि जब एककी मुक्ति होती है, तब इसी न्यायसे सबकी भी हो सकती है। फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके लिये तो कुछ भी असम्भव है ही नहीं; क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् हैं, **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'** हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं।' भगवान् बोले—'वत्स ! तुम्हारा कथन ठीक है; किंतु मैं ऐसा नहीं कर सकता, इसके लिये मैं लाचार हूँ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! यदि आप नहीं कर सकते तो फिर आपने आग्रह करके यह क्यों कहा कि तुम अपने इच्छानुसार वर माँग लो ? आपको यही कहना उचित था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, स्वर्ग या मुक्ति माँग लो।' इसपर भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है। तुम्हारी विजय हुई और हम हारे।' भक्तने कहा—'इसमें मेरी विजय क्या हुई, मेरी विजय तो तब होती, जब आप सबका कल्याण कर देते।' भगवान्ने कहा—'सबका कल्याण तो सम्भव नहीं; किंतु मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, स्मरण तथा नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है; तुम बड़े दयालु और उदारचित्त निष्कामी प्रेमी भक्त हो, इसलिये तुम्हारे भी दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो जायगा।' भक्तने इस बातको स्वीकार कर लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका भी कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये।

× × × ×

श्रीविष्णुपुराणमें नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं; किंतु मुद्रित प्रतियोंके छहों अंशोंमें तेईस हजार श्लोक नहीं मिलते।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥

(६।२।६, ८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर जलसे निकलकर बोले—'स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन है?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका

परम कल्याण हो जाता है।

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

(विष्णुपु० ६।२।३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२।३।५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंकी निधि है; परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

****

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥

(विष्णुपु० ६।२।१५-१६)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे।

(ब्राह्म० सेतु० ४३।३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त किया जा सकता है।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है। सत्ययुगमें ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः ॥

(विष्णुपु० ६ । २ । १७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है। हे धर्मज्ञगण! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(१२ । ३ । ५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह भक्तिका साधन सुगम और श्रेष्ठ है तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्पकालमें ही हो सकती है। श्रीपराशरजी कहते हैं—

****

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥

(विष्णुपु० ६।१।६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे प्राप्त कर सकता है।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥

(माहेश्वर० कुमा० ३५।११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है। अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये। हमें उचित है कि भगवान्‌के नाम और गुणोंका स्मरण तथा भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। अन्य कार्य हों या न हों अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है। मनुजीने भी कहा है—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनु० २।८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह

नहीं है। वह अन्य कुछ करे या न करे, (ऐसा वह) ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है; किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं; किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥

(६।२।१९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। द्विजगण! इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेशसे अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजोंकी सेवा करके ही अपने उत्तम लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

****

इसलिये शूद्रोंको ऐसा अवसर पाकर सबकी सेवा करके विशेष लाभ उठाना चाहिये।

कोई भी शुभकर्म हो, यदि निष्कामभावसे किया जाय तो उससे तुरंत मुक्ति हो जाती है। कर्मोंके फलका, उन कर्मोंकी और विषयोंकी आसक्तिका एवं अभिमानका त्याग करके समतापूर्वक शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंके करनेका नाम ही कर्मयोग है। इस प्रकारके योगके साधनसे मनुष्यकी मुक्ति शीघ्र ही हो जाती है।

भगवान् कहते हैं—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ५।६)

'कर्मयोगी मुनि ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

यदि सबको भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की जाय तो वह भक्तिप्रधान कर्मयोग होनेके कारण उच्चकोटिका सर्वश्रेष्ठ निष्कामकर्म है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये अपने-अपने स्वाभाविक शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुसार सेवा करनेका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी विधान है; क्योंकि इसी उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ४२, ४३

और ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वधर्मरूप कर्मका प्रतिपादन किया है एवं सभीके लिये सबमें भगवद्बुद्धि करके अपने-अपने कर्मोंद्वारा उनकी सेवारूप पूजा करनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलायी है।

शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा क़रना मुख्य है; क्योंकि उनकी आजीविकाका कर्म भी सेवा ही है। इसलिये दूसरे वर्णवालोंका अपनी आजीविकाके लिये तीनों वर्णोंकी सेवारूप कर्म करनेका अधिकार नहीं है; किंतु आपत्तिकालमें तो अपनेसे समान और उच्च वर्णवालोंकी सेवा सभी कर सकते हैं। जैसे—वैश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और क्षत्रियकी सेवा कर सकता है। स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक ईश्वर-बुद्धिसे तो सभी लोग सभीकी सेवा कर सकते हैं।

आजकल लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंने शूद्रोंको पददलित करके नीचे गिरा दिया, यह उनकी भूल है। जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं। शास्त्रोंमें जो स्वधर्मपालनको सबसे बढ़कर बतलाया है और उसका फल उत्तम गतिकी प्राप्ति कहा गया है, वह ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्रके लिये बहुत ही सुगम है। इसी दृष्टिसे श्रीवेदव्यासजीने शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने उच्च वर्णके अभिमानसे शूद्रोंको तुच्छ समझकर यदि उनकी अवज्ञा करते हैं, तो यह उनकी गलती है; क्योंकि सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये कोई भी मनुष्य किसीकी अवज्ञा और तिरस्कार करता है तो वह भगवान्‌का ही अपमान और तिरस्कार करता है। अतः सभी मनुष्योंको उचित है कि अपनेसे निम्न वर्णवालोंकी अवज्ञा कभी न करें अपितु उन्हें श्रेष्ठ और धन्य समझकर उनका

यथायोग्य सम्मान करें; क्योंकि शास्त्रोंमें शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है तथा स्वाभाविक ही उन शूद्रोंमें उच्च जातिका अभिमान नहीं रहता। अभिमान किसी भी प्रकारका क्यों न हो, अभिमानमात्र ही मुक्तिमें बाधक है।

अब विचार करते हैं कि 'स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य कैसे हैं?' धर्मका पालन और उत्तम लोकोंकी तथा परम गतिकी प्राप्ति स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा शीघ्र और अनायास ही हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजाञ्जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(विष्णुपु० ६।२।२५-२९)

'हे द्विजोत्तमगण! पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। इस द्रव्यके उपार्जन तथा रक्षणमें महान् क्लेश होता है और उसको पापकार्यमें लगानेसे पुरुषोंको जो दुःख भोगना पड़ता है, वह सभीको मालूम ही है। विप्रवरो! इस प्रकार पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य

कष्टसाध्य उपायोंसे क्रमशः अपने प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु स्त्रियाँ तो केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिये हे ब्राह्मणो ! मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार शास्त्रोंमें सभी जगह यह प्रसिद्ध है कि पतिकी सेवामात्रसे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें कहा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

—इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियोंको केवल पतिकी सेवामात्रसे ही बिना ही परिश्रम और सुगमतासे परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, वह पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे अपने पतिको भी परमधाममें ले जाती है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें आया है कि शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई पतिसहित भगवान्‌के परम धामको चली गयी। उसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्‌ने यह कहा है कि शुभा पतिव्रता मेरे समान है, वह अपने सतीत्वके प्रभावसे ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है।

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें वर्णन आता है कि कृकल वैश्यकी पत्नी सुकलाको उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र आदि देवताओंने साक्षात् दर्शन देकर वर माँगनेको कहा था। उस समय कृकलने पूछा—'देवताओ ! आपलोग मेरे किस पुण्यके कारण पत्नीसहित मुझे वर देने पधारे हैं।' तब इन्द्रने कहा—'हमलोग तुम्हारी धर्मपत्नी सती सुकलाके पातिव्रत्यसे संतुष्ट होकर तुम्हें वर देना

चाहते हैं।' सुकलाके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके पति कृकल बड़े हर्षित हुए। तत्पश्चात् उन दोनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और धर्ममें अनुराग प्राप्तिका वर माँगनेपर देवतागण उन्हें अभीष्ट वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

यदि कहें कि 'पति महान् नीच और नरकमें ले जाने योग्य पापकर्म करनेवाला है तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है तो वह स्त्री पतिके साथ नरकमें जायगी या उत्तम गतिको प्राप्त होगी ?' तो इसका उत्तर यह है कि पातिव्रत्य-धर्मके पालनके प्रभावसे वह अपने पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होगी। उस स्त्रीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसका पति भी शुद्ध और परम पवित्र हो जायगा। पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेवाली स्त्रीकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती और पतिसे उसका वियोग भी नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें उसका पति ही उसके प्रभावसे परम पवित्र हो जाता है और वह अपनी पत्नीसहित उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

इसीलिये महामुनि वेदव्यासजीने स्त्रियोंको श्रेष्ठ कहा है और उनको अतिशय धन्यवाद दिया है। अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको ऐसा स्वर्ण-अवसर कभी हाथसे नहीं जाने देना चाहिये, अपितु मन, वचन, कर्मसे अपने पातिव्रत्य-धर्मका तत्परतासे पालन करके अपनी आत्माका कल्याण शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये; अन्यथा यदि यह अवसर हाथसे चला जायगा तो महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रीजातिके कल्याणके लिये भगवान्‌ने यह बहुत ही उत्तम और सरल उपाय बताया है।

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं। उनका रचयिता कोई नहीं है।

श्रीवेदव्यासजी भी इनके संकलनकर्ता ही माने गये हैं। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है। पुराणोंमें लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके अनेक महत्त्वपूर्ण साधनोंका वर्णन मिलता है, जिनको पढ़-सुनकर और फिर अनुष्ठानमें लाकर मनुष्य परम पदतक प्राप्त कर सकता है। अतएव जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेका विधान है, उसी प्रकार पुराणोंका पठन-श्रवण और मनन भी सबको नित्य करना चाहिये।



सब प्रकारकी उन्नति

मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करे। अतएव पहले यह विचार करना है कि उन्नति क्या वस्तु है और उसका प्राथमिक और अन्तिम स्वरूप क्या है तथा संक्षेपमें उसके कितने प्रकार हैं। हमारे शास्त्रकारोंने यह निर्णय किया है कि एक धर्म ही समस्त उन्नतियोंका केन्द्र है। इसीलिये संक्षेपमें धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकदर्शन)

'जिससे अभ्युदय (सर्वविध उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण— मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे यह सिद्ध होता है, लौकिक उन्नतिसे लेकर पारमार्थिक उन्नतितक सभी इस धर्मके अन्तर्गत हैं। अब यहाँ संक्षेपसे उसके प्रकारोंपर विचार करें। मेरी समझसे आरम्भसे अन्ततक इसके दस प्रकार बताये जा सकते हैं—

१-शारीरिक उन्नति।

२-भौतिक उन्नति।

३-ऐन्द्रियिक उन्नति।

४-मानसिक उन्नति।

५-बौद्धिक उन्नति।

६-सामाजिक उन्नति।

७-व्यावहारिक उन्नति।

८-नैतिक उन्नति।

९-धार्मिक उन्नति।

१०-आध्यात्मिक उन्नति।

अलग-अलग प्रकार बतलानेपर भी यह तो मानना ही होगा कि इन सबका सम्बन्ध यथार्थ आत्मकल्याणसे ही होना चाहिये। जिससे आत्माका यथार्थ कल्याण न होकर पतन या अहित होता है, वह तो उन्नति ही नहीं है। अब इनपर अलग-अलग विचार करें।

'शारीरिक उन्नति' का यह अभिप्राय नहीं कि केवल शरीरमें खूब बल हो, शरीर खूब मोटा-ताजा हो और वह विषयोपभोगसे न थकता हो। इस प्रकारकी शारीरिक स्थिति तो असुरों और राक्षसोंको भी प्राप्त थी। वे नित्य भोगपरायण रहते थे और अपने सबल और सुपुष्ट शरीरसे अन्यान्य प्राणियोंके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते, उन्हें कष्ट पहुँचाते और उन्हें मार-काटकर अपने शरीरका पोषण और सुख-सम्पादन करते थे। यह वस्तुतः शारीरिक उन्नति नहीं, यह तो पतन है। शारीरिक उन्नति तो उसको कहते हैं, जिसमें शरीर स्वस्थ हो, नीरोग हो, परिश्रमशील हो, दूसरोंकी सेवा करनेमें सदा तत्पर हो, सेवासे कभी थकता न हो और दुःखियोंका दुःख दूर करनेमें समर्थ हो तथा ऐसे सात्त्विक शुद्ध पदार्थोंसे ही जिसका संरक्षण और भरण-पोषण होता हो, जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक हों, इन्द्रियोंमें सात्त्विकता पैदा करनेवाले हों, सात्त्विक मन और बुद्धिका निर्माण और वृद्धि करनेवाले हों एवं सात्त्विक बल, तेज, ओज और आरोग्य बढ़ानेवाले हों। भगवान्‌ने ऐसे सात्त्विक पदार्थोंका गीतामें दिग्दर्शन कराया है। वे कहते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे

आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार शरीरको उन्नत बनाना चाहिये। वस्तुतः वही यथार्थ उन्नति है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो। शरीरकी जिस उन्नतिमें जीवोंकी हिंसा हो, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता हो, वह तो तामसिक है, वह तो हमारा पतन है।

'भौतिक उन्नति' शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति व्यापक है। जैसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंको अधिक-से-अधिक प्राणियोंके लिये उपयोगी बनाना यह वास्तविक भौतिक उन्नति कहलाती है। वर्तमानमें जिसे 'भौतिक विज्ञान' या 'साइंस' कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है, वह वास्तविक भौतिक उन्नति नहीं है। इस विज्ञानके जानकार वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक उन्नति ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति प्रकारान्तरसे इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। आजकल हम साधारण-सी ऐसी उन्नतिको देखकर चकाचौंधमें पड़ जाते हैं; किंतु थोड़ी गम्भीरतासे विचार करके देखिये। आज एक छोटे-से वायुयानको देखकर हम आश्चर्य करने लगते हैं कि देखो, ये आकाशमें उड़ने लगे! किंतु वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज लङ्काविजय करके जिस पुष्पकविमानसे अयोध्या आये थे; वह इतना विशाल था कि उसमें उनकी करोड़ोंकी संख्यावाली सारी वानरी सेना बैठकर आयी थी। अब आप विचार करें। आज दुनियाके सारे वायुयान इकट्ठे किये जायँ तो भी वानरोंकी उतनी बड़ी सेनाको शायद ही उनमें ले जाया जा सके।

त्रेताकी बात छोड़िये। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व एक शाल्व नामके

राजा थे। उनके 'सौभ' नामक विमान था, जिसे 'सौभनगर' कहते थे। वह कभी आकाशमें उड़ा करता, कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ जाता और कभी जलमें तैरने लगता तथा कभी सबमैरीनकी भाँति जलमें प्रवेश कर जाता। उसमें समस्त सेना रहा करती थी, वह बहुत ही बड़ा था। उस वायुयानको लेकर राजा शाल्वने द्वारकापर चढ़ाई की थी और उसने वहाँ वीर यादवोंके छक्के छुड़ा दिये थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाणों और गदाके द्वारा उसको छिन्न-भिन्न करके समुद्रमें गिराया था। सोचिये, कितनी भारी शक्ति उस एक वायुयानमें थी। एक ही वायुयानमें वहीं न्यायालय हो, वहीं युद्धकी सारी सामग्री हो, आरामके सारे सामान मौजूद हों और प्रजा भी उसमें बसती हो—यह कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसा वायुयान आज संसारमें देखनेमें नहीं आता।

दूसरी बात लीजिये। आज एटम या हाइड्रोजन बमकी बात देख-सुनकर लोग चकित हो रहे हैं, एटम बम आदिके द्वारा हजारों-लाखों निर्दोष प्राणियोंको एक साथ मार दिया जाता है; किंतु आप हमारे इतिहासकी ओर थोड़ा ध्यान दें। महाभारतके वनपर्वमें लिखा है कि एक समय अर्जुनके साथ शिवजीका युद्ध हुआ था, उस युद्धसे शिवजी प्रसन्न हो गये। शिवजीने अर्जुनसे कहा कि 'तुम वरदान माँगो।' अर्जुनने कहा कि 'आप पाशुपत-अस्त्र मुझे दे दें।' शिवजीने पाशुपतास्त्र दे दिया और कहा कि 'इसे सहसा तुम चलाना मत। तुम इसे अपने पास रखना अपनी आत्माकी रक्षाके लिये। यदि इसे चला दोगे तो तीनों लोक भस्म हो जायँगे।'

कला-कौशल भी उस समय उच्च शिखरपर पहुँचा था। त्रिपुरासुर नामके तीन असुर थे। उन्होंने तीन पुर बसाये थे—एक पृथ्वीपर, एक

स्वर्गमें और एक आकाशमें। उन तीनों पुरोंका कोई एक बाणसे नाश करे, तब वे असुर मरें—यह वरदान उन्हें मिला हुआ था। शिवजीने पाशुपतास्त्र चलाकर उन तीनों पुरोंका नाश किया था। एक तो आकाशमें पुर बसाना आश्चर्यकी बात है और दूसरी एक ही बाणसे तीनोंको नष्ट कर डालना यह और आश्चर्यकी बात है।

महाभारतके द्रोणपर्वमें लिखा है कि जब द्रोणाचार्य मर गये थे, तब उनका पुत्र अश्वत्थामा बहुत भयंकर क्रोध करके पाण्डवोंपर टूट पड़ा था। उस समय उसने 'नारायणास्त्र' चलाया था। नारायणास्त्रकी बड़ी भारी शक्ति है। उसका प्रयोग करते ही आकाशसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी। पाण्डव एकदम घबरा गये। पाण्डवोंके नाकमें दम आ गया। पाण्डवोंकी सेनाका बुरी तरह संहार होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णजी जानते थे कि यह नारायणास्त्र है। बिना मारे नहीं छोड़ेगा। सारी सेनाको नष्ट कर डालेगा। पर वे उसके निवारणका उपाय भी जानते थे। उन्होंने कहा—'इसका एक ही उपाय है— आत्मसमर्पण कर देना। हथियार छोड़कर जमीन पर खड़े हो हाथ जोड़कर स्थित हो जाना। फिर इसका असर तुमलोगोंपर नहीं होगा।' पाण्डवोंने ऐसा ही किया। अस्त्र तुरंत शान्त हो गया। दुर्योधनने अश्वत्थामासे कहा—'अश्वत्थामा ! तुमने बड़ा प्रभावशाली अस्त्र चलाया। एक बार इसको फिर चलाओ।' अश्वत्थामा बोला—'मैं अब इसे दुबारा नहीं चला सकता। नारायणास्त्रका प्रतीकार है आत्मसमर्पण। जो आत्मसमर्पण कर देता है, उसपर इसका प्रभाव नहीं होता। आत्मसमर्पण करनेवालेपर यदि कोई इस अस्त्रका पुनः प्रयोग करता है तो उस प्रयोग करनेवालेको ही यह अस्त्र मार डालता है।' आप विचार कीजि अस्त्रोंमें कितना बड़ा विज्ञान था। एक अस्त्रको चलानेसे चाहे

करोड़ सेना हो, चाहे दस करोड़, सब नष्ट हो जाती थी। पर ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग होता था युद्ध करनेवाली सेनापर, न कि निरपराधी निरीह नर-नारियों और बाल-वृद्धोंपर। हमारे देशकी ओर ध्यान दीजिये। नारायणास्त्र किसका? श्रीविष्णुका। पाशुपतास्त्र किसका? शिवजीका। ब्रह्मास्त्र किसका? ब्रह्माजीका। ऐसे महान् अस्त्र थे हमारे देशमें।

हमारे यहाँ पाँच भूतोंकी बड़ी भारी उन्नति हो गयी थी। आठ प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन मिलता है, जिनमें चार मनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक सिद्धियाँ हैं और चार भूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली भौतिक सिद्धियाँ हैं। इन भौतिक सिद्धियोंके नाम हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा। मानसिक सिद्धियोंके नाम हैं—प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। अणिमाका अभिप्राय है—अणुके समान छोटा बन जाना। हनुमान्‌जी जब लङ्कामें प्रवेश करते हैं, तब मच्छर-जैसा रूप बना लेते हैं; यह 'अणिमा' सिद्धिका प्रभाव था और जब हनुमान्‌जी लङ्काको जा रहे थे, तब समुद्रको लाँघनेके समय उन्होंने महान् स्वरूप धारण कर लिया था। यह 'महिमा' सिद्धि केवल हनुमान्‌जीमें ही नहीं थी, सिंहिका नामकी राक्षसीमें भी थी, और भी राक्षसोंमें थी। घटोत्कचमें भी थी। जब घटोत्कच मरने लगा, तब वह अपने शरीरको बढ़ाने लगा। उसने सोचा कि जब मैं मरूँगा तो जितनी कौरवोंकी सेना है, सबको दबाकर मरूँगा। उस समय उसने इतना बड़ा शरीर धारण किया कि उसके गिरनेपर एक अक्षौहिणी कौरव-सेना उसके नीचे दबकर मर गयी। ऐसी-ऐसी विद्याएँ तो राक्षसोंमें थीं। मेघनादके युद्धमें देखा जाता है कि एक समय मेघनाद आकाशमें शिलाकी वर्षा कर रहा है। वह दीखता नहीं, अन्तर्धान हो रहा है। एक समय

देखा जाता है कि चारों ओर मेघनाद-ही-मेघनाद हैं। यह भी एक अद्भुत सिद्धि ही थी। ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ थीं! इस प्रकार अणुके समान शरीर बना लेना 'अणिमा', महान् रूप धारण कर लेना 'महिमा', भारी रूप धारण कर लेना 'गरिमा' और हलका रूप धारण कर लेना 'लघिमा' सिद्धि है। ये चारों भौतिक सिद्धियाँ हैं। मानसिक सिद्धियाँ चार हैं—जिस चीजकी इच्छा करे, वही प्राप्त हो जाय, यह 'प्राप्ति' सिद्धि है। जिस समय यह कामना करे कि अमुक शत्रु मर जाय, उसी समय उसका मर जाना, यह 'प्राकाम्य' सिद्धि है। ईश्वरके समान सृष्टिकी रचना कर लेना 'ईशित्व' है, जैसे विश्वामित्रजीने अपने तपके बलसे रचना करना आरम्भ कर दिया था। किसीको अपने वशमें कर लेना, अधीन कर लेना 'वशित्व' सिद्धि है। इसके सिवा और भी अनेकों सिद्धियोंकी बात आती है।

आप श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें देखिये। जब भरतजी महाराज चित्रकूट जा रहे थे और रास्तेमें उन्हें भरद्वाज ऋषिके यहाँ ठहरना पड़ा, तब श्रीभरद्वाज ऋषिने सिद्धियोंको बुलाकर क्षण मात्रमें सबके खाने-पीनेके लिये सारी सामग्री और रहनेके लिये मकान रच दिये। उनका पूरा आतिथ्य सिद्धियोंके द्वारा करवाया। आज संसारमें ऐसी सिद्धियाँ देखनेमें नहीं आतीं।

ध्यान दीजिये, युद्ध हो रहा है कुरुक्षेत्रमें और हस्तिनापुरमें भी बैठा हुआ संजय श्रीवेदव्यासजीकी दी हुई दिव्यदृष्टिके प्रभावसे युद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनाको प्रत्यक्षवत् देख-सुनकर धृतराष्ट्रको सारी बता रहा है। उसे वहाँकी सारी चीजें दीख रही हैं। वहाँ आपसमें बातें करते हैं, उन्हें भी संजय सुन रहा है और किसीके मनमें बात आती है, उसे भी संजय जान लेता है। उसका मन दिव्य

इन्द्रियाँ दिव्य हो गयीं। आप सोचिये, वह कैसी अद्भुत विद्या थी! इससे मालूम होता है कि उस समय भौतिक उन्नति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

हमलोगोंको भौतिक उन्नति भी वही करनी चाहिये, जिसमें किसीकी हिंसा न हो, किसीका अहित न हो। बम चलाकर निरपराध मनुष्योंको मार डालना यह कोई भौतिक उन्नतिकी महिमा नहीं है। भौतिक उन्नति वह होनी चाहिये, जिस उन्नतिसे सबकी सेवा बने, सब प्राणियोंका हित हो, सबको सुख मिले। जैसे भरद्वाज ऋषिने भौतिक उन्नतिसे सबकी सेवा की, इसी प्रकार भौतिक उन्नतिको काममें लाना चाहिये।

हमारी इन्द्रियोंमें अनेकों दोष भरे हुए हैं; जैसे वाणीमें कठोरता, मिथ्या-भाषण, व्यर्थ बकवाद, अप्रिय वचन, अहितकर वचन आदि। इसी प्रकार कानोंमें परनिन्दा सुनना, व्यर्थ वचन सुनना। जिह्वामें स्वादकी और त्वचामें स्पर्शकी लोलुपता। नेत्रोंमें परस्त्रीको देखना, दूसरेके दोष देखना एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें रागद्वेष आदि दोष भरे पड़े हैं—उनसे इन्द्रियोंको रहित करना, विषयोंसे इन्द्रियोंका संयम करना, उन्हें शुद्ध और दिव्य बनाना, विषयोंसे इन्द्रियोंकी वृत्ति हटाकर अपने वशमें करना—यह 'ऐन्द्रियिक उन्नति' है।

अब 'मानसिक उन्नति'के विषयमें विचार करें। मानसिक उन्नतिका अर्थ है—मनको उन्नत करना। सिद्धिके द्वारा दूसरेके मनकी बात ज़ान लेना, यहाँ बैठे हुए ही सारे संसारकी बातोंको सिद्धियोंके द्वारा समझ लेना, दूरसे आग बुझा देना, मनोबलके द्वारा दूर बैठे ही रोग नाश कर देना, विष उतार देना, शत्रुता मिटा देना, मैत्री उत्पन्न कर लेना, मनके संकल्पका सत्य हो जाना, मनको अपने वशमें करना, मनको एकाग्र करना तथा संसारके पदार्थोंसे रोकना, मनके भीतर जो बहुत-से

दुर्गुण, दुर्व्यसन और पाप हैं उनको धो डालना, दया, करुणा, मैत्री, प्रेम, विराग, शान्ति आदि सद्भावों और सद्विचारोंसे युक्त होना, मनका विषय-चिन्तनसे रहित होकर आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनपरायण होना आदि यह सब मानसिक उन्नति है। इस प्रकार हमें मानसिक उन्नति करनी चाहिये। मानसिक उन्नति वस्तुतः हमें यहाँतक करनी चाहिये कि जिससे हमारी वास्तविक उन्नति होकर हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। जिसमें आत्माकी महान् उन्नति हो, जो परमात्माकी प्राप्तिमें परम सहायक हो, वही वास्तविक मानसिक उन्नति है। जो मानसिक उन्नति प्राणियोंको कष्ट देनेवाली हो, दूसरेके हितका नाश करनेवाली हो, जिसमें आत्माका पतन हो, वह मानसिक उन्नति नहीं, अवनति है।

इसी प्रकार हमें 'बौद्धिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारी बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिये। हमारी बुद्धि शुद्ध, सात्त्विक और स्थिर होनी चाहिये। बुद्धिपर जो आवरण है, वह दूर होकर यथार्थ और सात्त्विक ज्ञान होना चाहिये। हमारी बुद्धिमें ज्ञानका इतना प्रकाश होना चाहिये कि जिससे हम परमात्माके स्वरूपको यथार्थतः समझ जायँ, बुद्धिके द्वारा जानने योग्य तत्त्व-पदार्थको जान जायँ; यह बौद्धिक उन्नति है। बौद्धिक उन्नति असली वही है, जिससे परमात्माके विषयका निर्भ्रान्त बोध हो, जिससे हमारे आत्माका कल्याण हो। आत्माके कल्याणमें सहायता देनेवाली बौद्धिक उन्नति ही यथार्थ बौद्धिक उन्नति है। जिस बौद्धिक उन्नतिसे संसारके पदार्थोंको जानकर प्राणियोंको कष्ट दें, जिस बुद्धिके द्वारा लोगोंपर अनुचित शासन करें और स्वयं ऐश-आराम करें, वह बुद्धिकी उन्नति नहीं, अवनति है। वह तो वस्तुतः पतन है। इसलि[ये] हमें बुद्धिको सूक्ष्म और तीक्ष्ण बनाना चाहिये, जिससे हम परमात्मा जान सकें—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

(कठ० १।३।१२)

'सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषोंद्वारा सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धिसे परमात्मा देखा जाता है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।' ऐसी जो हमारी बौद्धिक उन्नति है, वह कल्याण करनेवाली है। इस प्रकार हमें बौद्धिक उन्नति करनी चाहिये।

इसी प्रकार हमलोगोंको अपनी 'सामाजिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारे समाजका पतन होता जा रहा है। आज यदि किसीके तीन-चार लड़कियाँ हो जाती हैं तो दहेजकी कुप्रथाके कारण उनका विवाह होना कठिन हो जाता है। कलकत्तेके हंसपुखरियामें एक लड़की सोलह वर्षकी हो गयी, उसके माता-पिताके पास दहेजके लिये रुपये नहीं थे; इस कारण लड़कीका विवाह न हो सका; अतः वे लड़कीके साथ ही विष खाकर मर गये। ऐसी हत्याओंका पाप लगता है दहेज लेकर विवाह करनेवाले लड़केके अभिभावकोंको। हमारे देशमें दहेजकी प्रथा इस समय इतनी बुरी हो गयी है कि जिनके दो-चार लड़कियाँ होती हैं, वे प्रायः रात-दिन रोते हैं और लड़की भी माता-पिताके

दुःखको देखकर रोती है। कोई-कोई लड़की तो माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्यातक कर लेती है। कितनी लज्जा और दुःखकी बात है ! आजकल हम जो रुपये लेकर लड़केको ब्याहते हैं, इसका मतलब यह कि हम लड़केको बेचते हैं।

हमारे यहाँ एक दिखावा होता है, उससे बड़ी हानि होती है। दूसरे लोग उसको देखकर उससे अधिक रुपये लगाते हैं, इससे खर्चकी वृद्धिमें प्रोत्साहन मिलता है। लड़का पैदा होता है, उस समय भी लोग बहुत फजूल खर्च कर देते हैं। विवाह-शादीमें जो बुरे गीत गाये जाते हैं, अनुचित दावतें दी जाती हैं, होटलोंमें पार्टी दी जाती है, आडम्बरपूर्ण सजावट की जाती है, हजारों रुपये व्यर्थ खर्च किये जाते हैं, अपवित्र तथा हिंसायुक्त वस्तुओंका व्यवहार किया जाता है—यह सभी सामाजिक पतन है। इस तरहकी बहुत-सी फजूलखर्ची और कुरीतियाँ हैं, जिनका सुधार करना परम आवश्यक है।

इसी प्रकार हमलोगोंको 'व्यावहारिक उन्नति' करनी चाहिये। व्यवहारमें—व्यापारमें जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करते हैं, लोगोंको धोखा देते हैं, यह हमारा 'व्यावहारिक पतन' है। हमें सचाई और समताके साथ न्याययुक्त त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इससे हमारे व्यवहारकी उन्नति होती है। दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें हमें स्वार्थका त्याग करना चाहिये। त्यागसे हमारी यथार्थ व्यावहारिक उन्नति होगी और सच्चा सुधार होगा।

पराये धन, परायी स्त्री, परायी यश-कीर्तिको हड़पनेका विचार तथा प्रयत्न करना, अपनी सुख-सुविधाके लिये अन्यायपूर्वक दूसरेकी सुख-सुविधाको नष्ट करना—यह सब 'नैतिक पतन' है। इससे हटकर हमें न्यायपूर्वक अपनी वस्तुपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। हमारा

नैतिक स्तर इतना ऊँचा होना चाहिये कि जिसमें अनैतिकताको कहीं जरा-सा भी स्थान हो ही नहीं। वरं हमारा न्याय वही हो, जिसमें दूसरेके अधिकारकी तथा हितकी रक्षा सावधानीसे होती हो। यही 'नैतिक उन्नति' है। हम अपनी चीज दूसरोंको दें नहीं और दूसरेकी चीज लें नहीं, ठीक अपने न्यायपर रहें, तो भी दोष नहीं है।

'धार्मिक उन्नति' इससे भी उच्चकोटिकी है। श्रीमनुजीने ये साधारण धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

१-धैर्य रखना, भारी आपत्ति आनेपर भी धैर्यका त्याग न करना। २-क्षमा करना, दूसरेके अपराधका बदला नहीं लेना। ३-मनको वशमें रखना। ४-चोरी-डकैती नहीं करना। ५-हृदयको शुद्ध बनानेके लिये बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना। ६-इन्द्रियोंको वशमें रखना। ७-सात्त्विक बुद्धि। ८-सात्त्विक ज्ञान। ९-सत्य वचन बोलना। १०-क्रोध न करना—ये सामान्य धर्मके दस लक्षण हैं। यह सामान्य धर्म है। यह मनुष्यमात्रमें होना चाहिये और विशेष धर्मकी बातें मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें बतलायी हैं, उन्हें देख लेना चाहिये। इस प्रकार अपने धर्मकी उन्नति करना 'धार्मिक उन्नति' है। इस धार्मिक उन्नतिको निष्कामभावसे करनेपर आत्माका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमें 'आध्यात्मिक उन्नति' करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति वह है, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो, जिससे हमें परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो, हम यह समझ जायँ कि परमात्मा क्या वस्तु है। ईश्वरकी भक्ति अध्यात्मविषयका एक खास अङ्ग है। इसलिये हमको

****

ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। जैसे धर्मके दस लक्षण बतलाये, वैसे ही भक्तिके भी नौ भेद बतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्वकी बातोंको सुनना श्रवणभक्ति, वर्णन करना कीर्तनभक्ति और उनको मनसे चिन्तन करना स्मरणभक्ति है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना पाद-सेवनभक्ति, भगवान्‌के मानसिक या मूर्त-विग्रहकी पूजा करना अर्चनभक्ति और भगवान्‌को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है। प्रभु हमारे स्वामी, हम प्रभुके सेवक—यह दास्यभाव है। भगवान् हमारे सखा—यह सख्यभाव है और अपने आत्माको सर्वस्वसहित उनके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन है।'

इस प्रकार आत्माके कल्याणके लिये जो ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन बतलाये गये हैं, उनका अनुष्ठान करना—आध्यात्मिक उन्नति है। आध्यात्मिक उन्नतिका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति है। जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली, उसीने वस्तुतः अपने अध्यात्मविषयकी उन्नति की।

अतः हमलोगोंको धार्मिक उन्नति भी परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करनी चाहिये। फिर वह धार्मिक उन्नति भी आध्यात्मिक उन्नतिमें सम्मिलित हो जाती है। वास्तवमें तो अध्यात्मविषयमें जो सहायक हो, वही धार्मिक उन्नति है। जो इसमें सहायक नहीं है, वह तो उन्नति ही नहीं है। ऊपर जितनी बातें बतायी गयीं, वे यदि आध्यात्मिक विषयमें सहायक हैं, तभी उन्नति है।

****

अब व्यावहारिक उन्नतिके विषयमें फिर संक्षेपसे कुछ विचार किया जाता है। हमारा व्यवहार यदि सात्त्विक हो जाय तो केवल व्यवहारसे ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे तुलाधार वैश्य थे और उनका व्यवहार बहुत उच्चकोटिका था। उस व्यावहारिक उन्नतिसे ही वे परमधामको चले गये। पद्मपुराणमें लिखा है कि तुलाधार वैश्य जो व्यापार करते थे, उसमें उनके स्वार्थका त्याग था, सचाईका व्यवहार था, सबके साथ सम बर्ताव था। इसीके प्रतापसे वे भगवान्‌के परमधाममें चले गये। इसी प्रकार शौचाचार-सदाचार है। उसे निष्कामभावसे संसारके हितके लिये करें तो उससे भी हमारा कल्याण हो सकता है। सबके हितका व्यवहार करें, सबके साथ अच्छा बर्ताव करें तो केवल हमारे उस बर्तावसे आत्मा शुद्ध होकर कल्याण हो सकता है। अतः केवल स्वार्थका त्याग होना चाहिये। स्वार्थका त्याग ही वास्तवमें मुक्ति देनेवाला है। भगवदर्थ अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' पूजा कैसी ? सबमें भगवद्बुद्धि करके सबका हित करना। सबका सब प्रकारसे हित हो, इस प्रकारका भाव हृदयमें रखकर निष्काम प्रेम-भावसे उनकी सेवा करना—यही कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करना है। इस प्रकारकी

पूजासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणका, ४३वेंमें क्षत्रियका और ४४वेंमें वैश्य और शूद्रका स्वाभाविक धर्म बतलाया है। ऊपर जो ४६वाँ श्लोक लिखा है, इसमें भगवान्‌ने कहा है कि ये लोग उपर्युक्त प्रकारसे अपने-अपने धर्मका पालन करें तो उससे इनका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमारी धार्मिक क्रिया भी मुक्ति देनेवाली हो सकती है। पर वह मुक्ति देती है निष्कामभावसे करनेपर। हम जो यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, उससे भी हमारी मुक्ति हो सकती है, यदि उसमें हमारा निष्कामभाव हो। उसमें स्वार्थका तथा आसक्ति, अहंकार, ममता और कामनाका त्याग होना चाहिये, जैसा कि भगवान्‌ने बतलाया है—

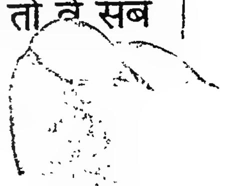
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसका अभिप्राय यही है कि हमारी सारी क्रिया स्वार्थरहित हो, हमारी क्रियाओंमें किसी प्रकारका अहंकार, स्वार्थ, ममता और आसक्ति न हो। तब वह क्रिया हमें मुक्ति देनेवाली हो जाती है। इसीका नाम 'कर्मयोग' है। निष्काम भाव आ जानेसे यह अध्यात्मविषयका खास साधन बन जाता है।

हम यदि यज्ञ, दान, तप, सेवा सकामभावसे करते हैं तो वे सब



राजसी हो जाते हैं। वह धर्म तो है पर सकाम धर्म है और सकाम धर्मके पालनसे कामनाकी पूर्ति होती है, स्वर्गादि मिलते हैं; किंतु उससे मुक्ति नहीं होती। इसलिये हमें धर्मका पालन भी निष्कामभावसे करना चाहिये। आध्यात्मिक विषय तो स्वरूपसे ही निष्काम है। यदि उसमें सकामभाव हो तो उसका नाम ही अध्यात्मविषय नहीं हो सकता। असली अध्यात्मविषय वही है कि जिसमें अपने आत्मा और परमात्माका ज्ञान हो जाय। उससे निश्चय ही कल्याण हो जाता है।

अध्यात्मज्ञानके लिये हमको नित्य भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये, भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा उपाय यह है कि वास्तवमें परमात्मा क्या वस्तु है— इसे जानना। इसके लिये हमको परमात्माके विषयका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उस ज्ञानको हम महात्माओंके पास जाकर, सत्सङ्ग करके भी प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यह ज्ञानयोगका साधन है। इसके आगे ३५ वें श्लोकमें इसका फल बतलाया है। अतएव हमें ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर ज्ञानकी शिक्षा लेनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे भी हमारे आत्माका उद्धार हो जाता है।

श्रद्धासे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमात्मा मिल जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ४ । ३९)

'हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार कर्मयोग, सत्सङ्ग, श्रद्धा और भक्तिके द्वारा भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है और स्वाध्यायके द्वारा भी हो जाता है।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

(गीता ४ । २८)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं (इससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं) ।'

इसी प्रकार बहुत-से उपाय परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हैं। उनमेंसे एकका भी साधन करके हम परमात्माको प्राप्त कर लें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। यह अध्यात्मविषय है।

अध्यात्मविषयमें प्रधान बात है—पात्र बनना। वास्तवमें पात्र बननेमें ही विलम्ब होता है, परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। जिस प्रकार बिजली जब फिट हो जाती है और शक्तिकेन्द्रसे उसका सम्पर्क हो जाता है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है; जो कुछ विलम्ब है वह बिजलीके फिट करनेमें तथा सम्पर्क जोड़नेमें ही है, स्विच दबानेमें नहीं; इसी प्रकार मनुष्य जब परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है तो उसे तुरंत परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

पात्र बननेके लिये सबसे उत्तम उपाय है—हम सारे संसारको परमात्मस्वरूप समझें और सारी चेष्टाको परमात्माकी लीला समझें। अर्थात् पदार्थमात्रको परमात्माका स्वरूप और चेष्टामात्रको परमात्माकी लीला समझें। इससे बहुत शीघ्र भाव सुधरकर कल्याण हो जाता है। हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि जहाँ हमारे मन और नेत्र जायँ, वहीं हम परमात्माका दर्शन करें। जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है।

जैसा कि भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १९वें श्लोकमें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसीके अनुसार हमको साधन करना चाहिये अर्थात् सिद्ध महात्मा पुरुषोंकी यह जो वास्तविक स्थिति है, उसको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार हमको साधन करना चाहिये। सबमें भगवद्‌बुद्धि करके सबमें भगवद्दर्शन करना चाहिये। जहाँ हमारी बुद्धि जाय, जहाँ मन जाय, जहाँ नेत्र जायँ, वहीं हम भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करें और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझें तो आत्माकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

जैसे कोई मनुष्य जब नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है, तब सारा संसार उसे हरे रंगका दीखने लगता है, इसी प्रकार हमें हरिके रंगका चश्मा अपनी बुद्धिपर चढ़ा लेना चाहिये। अपने अन्तःकरणपर हरिके रंगका यानी हरिके भावका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। हम इस प्रकार सबमें परमात्मभाव करें कि सब परमात्माका स्वरूप है। यह एक प्रकारका उत्तम भाव है। हृदयमें हम इस भावको दृढ़ कर लें, यह चश्मा चढ़ा लें, फिर सर्वत्र यह भाव करें कि सर्वत्र भगवान् विराजमान हो रहे हैं तो बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और सर्वत्र भगवद्दर्शन होने लगते हैं। सब जगह एक परमात्माके सिवा फिर उसकी दृष्टिमें और कोई पदार्थ रहता ही नहीं। यह सबसे बढ़कर साधन है।

——★——

देशवासियोंके हितकी कुछ बातें

वर्तमान समयमें उन्नतिके नामपर चारों ओर इस प्रकारके अनर्गल कार्य हो रहे हैं कि जिनसे देश, जाति और धर्मका पतन होता जा रहा है। उन सब अनर्थपूर्ण कार्योंको समझ-सोचकर उनसे स्वयं विरत होना तथा दूसरोंको उनकी बुराइयाँ समझाकर विरत करना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे देश, जाति और धर्मका उत्थान हो। हम अपनी धर्म-निरपेक्ष सरकारसे भी अनुरोध करते हैं कि वह हमारी प्रार्थनापर ध्यान दे। यहाँ ऐसी कुछ बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यधर्म हिंदू-धर्मका प्रधान अङ्ग है। उसके विरुद्ध जो तलाक-विधेयक स्वीकृत किया गया है, वह भारतीय पतिव्रता स्त्रियोंके प्रति घोर अन्याय है। इससे संस्कारगत विवाहका मूल आदर्श ही नष्ट हो जाता है। यह स्त्रियोंके सतीत्वको तो नष्ट करनेवाला है ही, स्त्रियोंके सुखपूर्वक जीवनयापनमें भी बाधा पहुँचानेवाला है। पुरुषवर्ग इस तलाक-कानूनके सहारे निर्दोष स्त्रीपर दोष लगाकर उसका त्याग कर सकता है। फिर उन बेचारी अबलाओंकी क्या गति होगी? चरित्रहीन पुरुष अपनी विषयकामनाकी पूर्तिके लिये इस तलाक-कानूनका आश्रय लेकर सरल स्वभावकी धनी स्त्रियोंसे, पतिको छुड़ाकर, अपने साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और इस प्रकार क्षणिक सुखका प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका हरण कर सकते हैं। ऐसी परित्यक्ता स्त्रियोंकी संख्या-वृद्धि हो सकती है। समाजके लोगोंके जो संस्कार हैं, उनके अनुसार उन स्त्रियोंके साथ भले लोग विवाह नहीं कर सकते, इससे पतित पुरुषोंको अपनी नीच वासनापूर्तिके लिये मौका मिल सकता है। विदेशोंकी भाँति यहाँ भी दम्पतिमें मुकद्दमेबाजी हो सकती है, इससे पारस्परिक प्रेममें तो बाधा है ही, साथ ही धनका अपव्यय भी है। उस

दिन श्रीटंडनजीने यह ठीक ही कहा था कि 'तलाककी छूट देकर पातिव्रत्यके श्रेष्ठ आदर्शको कलङ्कित किया जा रहा है।'

यह हिंदू-विवाह-कानून हिंदू-धर्मपर प्रत्यक्ष घोर आघात है। हिंदू-विवाह कोई कंट्राक्ट नहीं है जो तोड़ा जा सके, वह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। यह अविच्छेद्य विवाह-संस्कार हिंदू-धर्मका एक मुख्य अङ्ग है। धर्मनिरपेक्ष सरकारका हिंदुओंकी इस पवित्रतम विवाह-संस्थाका विनाश करनेके लिये बहुमतके बलपर इस प्रकार कानून बना देना उचित नहीं है। जिसका अधिकांश हिंदू-जनताने एक स्वरसे विरोध किया, बड़े-बड़े न्यायाधीशोंने, विश्वविख्यात कानूनके पण्डितोंने, धर्माचार्योंने जिसको अन्यायमूलक तथा हिंदूधर्मके लिये अत्यन्त घातक बतलाया, उसी पतनका पथ प्रशस्त करनेवाले विवाह-कानूनको थोड़ी-सी पाश्चात्त्यभावापन्न स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिये और सुधारके नामपर, किसीकी भी कुछ भी न सुनकर, पास कर देना, जनतन्त्र सरकारके लिये कहाँतक युक्त है, विज्ञ पुरुष इसका विचार कर सकते हैं। विशाल जनताके मतके विरुद्ध केवल लोकसभाके बहुमतसे कोई कार्य करना जनतन्त्रका उपहास करना है!

इसी प्रकार उत्तराधिकार (सम्पत्तिके बँटवारे) के विषयमें हिंदूपरिवारके लिये जो कानून बना है, वह भी हिंदूजातिके लिये अत्यन्त घातक है। स्त्रीका पिताके घरमें हिस्सा रखना स्त्रियोंके लिये महान् हानिकर है। इस कानूनके अनुसार उधर लड़कीको पिताके घरमें हिस्सा मिलेगा, तो इधर अपने ससुरालमें पतिकी बहिन (अपनी ननद) को दे देना पड़ेगा। इससे स्त्रियोंको क्या लाभ होगा। वरं परस्पर मनोमालिन्य, राग-द्वेष, वैर-विरोध बढ़ सकता है, भाई-बहिनोंका प्रेम नष्ट हो सकता है और मुकद्दमेबाजी हो सकती है। ऐसा होनेपर

इज्जत, लज्जा, शरीर और धनकी महान् हानि हो सकती है। सगे-सम्बन्धी परस्पर एक-दूसरेको मारनेके लिये उद्यत हो सकते हैं। इससे तो यही उत्तम है कि जबतक विवाह न हो, तबतक पिताके घरमें कन्याका पुत्रकी तरह पूरा अधिकार रहे और विवाह होनेके बाद ससुरके घरमें स्त्री-पुरुषका समान अधिकार रहे। अभी भी किसी अंशमें ससुरालमें स्त्रियोंका अधिकार है, इसको और अधिक दृढ़ कर दिया जाय कि पतिके जीवित रहते भी और मरनेपर भी स्त्रीका समान अधिकार रहे। यही स्त्री-जातिके लिये बहुत लाभकी बात है। ऐसा न करके विवाहिता स्त्रीके लिये पिताके घरमें अधिकारका जो कानून बनाया गया है, उससे तो हानि-ही-हानि है—समाजमें घोर अशान्ति तथा अव्यवस्था हो सकती है। खास करके स्त्रियोंके लिये संकट बहुत बढ़ सकते हैं। स्त्रियोंमें स्वाभाविक ही सरलता है तथा लज्जा और भय भी है, इससे वे इस समय भी पुरुषोंके द्वारा अपने हकसे वञ्चित कर दी जाती हैं, इस कानूनसे तो उनकी और भी दुर्दशा हो सकती है।

आजकल धनी विधवा स्त्रियोंको भी भयानक कष्ट उठाने पड़ते हैं। यदि वह लड़का गोद लेती है तो वह लड़का उसके धनका मालिक बन बैठता है। कोई-कोई लड़के तो माताके साथ बहुत ही नीचताका बर्ताव करते देखे-सुने गये हैं। स्त्रीका निजी धन, जो फर्मके बहीखातोंमें उसके नामसे जमा है, उसे न देना; विवाह, द्विरागमन और पतिकी मृत्यु आदिके समय ससुर और पिता आदिसे मिले हुए धन और आभूषण आदिको भी हड़प लेना; उसके पतिकी जीवन-बीमाकी रकम, जो पतिके मरनेपर स्त्रीको मिलनी चाहिये, स्वयं ले लेना, उसे न देना; रहनेके लिये स्थानतक न देना; जीवन-निर्वाहके लिये मासिकरूपसे भी

खर्च न देना, बल्कि उसपर झूठा दोष लगाकर उसे घरसे निकाल देना आदि अत्याचार गोदके लड़के माताओंके साथ करते हैं। कहीं-कहीं तो विधवा स्त्रीके निजी रुपये और गहनोंको सास-ससुर, जेठ-जेठानी और देवर-देवरानी कब्जा करके हड़प लेते हैं और यदि नैहरमें रकम या गहना रहा तो उसे भाई-भौजाई आदि हड़प जाते हैं। वह बेचारी रोती-कलपती और क्लेश भोगती रह जाती है। ससुराल, नैहर और अपनी इज्जतको ध्यानमें रखकर वह लज्जाके मारे अपने ससुरालवालों या नैहरवालोंपर कानूनी कार्रवाई भी नहीं करना चाहती और बिना ऐसा किये कोई उसे एक पैसा देता नहीं। ऐसी कोई बहिन यदि अदालतकी शरण लेना भी चाहती है तो कोई भी उसकी मदद भी नहीं करता—न समाजके लोग, न सरकार और न कानूनी पेशा करनेवाले वकील आदि ही। इस स्थितिमें उसका जीवन कितने संकटमें बीतता है, इसे वही जानती है। इधर दुराचारी लोग विविध साधनोंसे स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेपर तुले रहते हैं। ऐसी अवस्थामें वह बेचारी क्या करे! विधवाओंके इस घोर दुःखको देखकर मनुष्यका हृदय काँप जाता है। अतः विधवा बहिनोंके इस दुःखकी ओर समाज, सरकार, वकील आदि सभीको ध्यान देकर उनकी यथासाध्य सहायता करनी चाहिये और उनके निजी गहने तथा रुपये उनके हकके अनुसार उनको मिल जायँ, इसके लिये तथा उनके सतीत्वकी रक्षाके लिये सभीको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

विवाहमें दहेज देनेकी प्रथा भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, यह देशके लिये बहुत ही घातक है। यह कुप्रथा प्रायः समस्त देशमें, भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और प्रायः सभी जातियोंमें फैल गयी है। इसके कारण एक लड़कीके विवाहमें धनी पिताके तो लाखों रुपये खर्च

होते ही हैं। साधारण श्रेणीके मनुष्यके भी एक लड़कीके विवाहमें पाँच-सात हजार रुपये खर्च हो जाते हैं और गरीब आदमीको भी कम-से-कम हजार आठ सौ रुपये तो खर्च करने ही पड़ते हैं। नहीं तो, लड़कीकी शादी होनी ही सम्भव नहीं। यह बहुत ही दुःखकी बात है। किसीके चार-पाँच लड़कियाँ हों तो उस बेचारेका तो जीवन ही भाररूप हो जाता है। यदि वह कहीं सौ-पचास रुपये मासिककी नौकरी करता है तो उनसे तो उसका घरका खर्च ही पूरा नहीं पड़ता। फिर वह चार-पाँच लड़कियोंका विवाह किस प्रकार करे? न तो उसे रुपये उधार मिलते हैं और न माँगनेपर ही मिलते हैं। इस दुःखके कारण कोई-कोई माता-पिता और कन्या तो आत्महत्यातक कर लेते हैं। ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं। इन दुःखपूर्ण आत्महत्याओंको रोकनेके लिये सरकार और जनताको उचित है कि इस बढ़ती हुई दहेज-प्रथाको साम, दाम, दण्ड, भेद—किसी भी प्रकारसे रोके। नहीं तो देश, जाति और धर्मकी भारी हानि हो सकती है। देशका महान् ह्रास हो जानेपर फिर कोशिश करनेपर भी कोई लाभ सम्भव नहीं। अतएव इसका शीघ्र सुधार होना चाहिये।

विवाह-शादीके समय अत्यधिक बिजली जलाने, शानदार मण्डप बनाने, आतिशबाजी करने, सिनेमा-नाटक आदि करवाने और मादक वस्तुओंके सेवन करने आदि कार्योंमें जो फिजूलखर्च होता है तथा लोगोंकी आसक्ति बढ़ती तथा रुचि बिगड़ती है, इससे बचनेके लिये भी प्रयत्न करके इनको बंद कराना चाहिये। बारात आनेके समय जो पार्टी दी जाती है, उसमें बड़े लोगोंके यहाँ प्रायः होटलके द्वारा प्रबन्ध होता है, जिसमें परोसनेवालोंमें सभी जातिके तथा विधर्मी भाई भी रहते हैं, उसमें एक पंक्तिसे बची हुई जूँठी मिठाई तथा नमकीन चीजें दूसरी

पंक्तिवालोंको परोसी जाती हैं। इससे स्वास्थ्य, धर्म और धनकी प्रत्यक्ष हानि होती है। दुःखकी बात है कि जहाँ अपनी प्राचीन परिपाटीके अनुसार अपने घरपर आये हुए अतिथि महानुभावों तथा सगे-सम्बन्धियों और बन्धुओंके भोजनार्थ घरहीमें पवित्र सामग्री तैयार करवाकर स्वयं ही बड़े ही विनय, प्रेम और उत्साहके साथ परोसना और उनका आतिथ्य करना चाहिये, वहाँ यह वस्तुतः उन अतिथियोंका घोर अपमान है। यह भी कम खेदकी बात नहीं है कि आजकल कोई-कोई अतिथि भी इस भ्रष्टाचारको ही पसंद करने लगे हैं। पर ऐसा होना नहीं चाहिये और इस विषयमें अपनी प्राचीन संस्कृति तथा रीतिके अनुसार ही बर्ताव-व्यवहार करना चाहिये। उसीसे कर्तव्य-पालन होता है तथा ठीक समझमें आ जानेपर अतिथिको भी विशेष प्रसन्नता होती है।

विवाह-शादीके अतिरिक्त अन्य समय भी यदि किसी भी सज्जनको हम चाय या भोजनके लिये बुलाते हैं तो उसका प्रबन्ध भी पवित्रताके साथ स्वयं ही करना चाहिये, होटलोंके द्वारा नहीं करवाना चाहिये। अधिकांश होटलोंमें तो मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र पदार्थोंका प्रायः ही संसर्ग रहता है, जिससे धर्म, प्रतिष्ठा और शारीरिक स्वास्थ्यकी भी हानि होती है। इसके अतिरिक्त, स्वयं भी होटलोंमें जाकर भोजन करना हमारे प्रतिष्ठा, धर्म और स्वास्थ्यके लिये सर्वथा हानिकर और अपमानजनक है; क्योंकि उनमें मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि अपवित्र, घृणित और हिंसात्मक पदार्थोंका संसर्ग रहता ही है। किसी-किसी होटलमें तो गोमांसतक रहता है, जिससे परहेज होना असम्भव-सा है। अतएव होटलोंका संसर्ग किसी भी प्रकार नहीं करना चाहिये। इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें लाकर ही ऋषि-मुनियोंने विदेशोंमें जाना मना किया था।

जन्म, उपनयन और मरणके समय भी जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च बढ़े हुए हैं, उनका भी सुधार करना चाहिये। लड़केके जन्मके समय जो चौपड़-ताश खेले जाते हैं, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंका सेवन किया जाता है, यह सर्वथा अनुचित है; इनको सर्वथा बंद करना चाहिये। जन्मके समय बालकके जातकर्म, बादमें नामकरण-संस्कार किये जाने चाहिये तथा यथासमय उसका उपनयन होना चाहिये, सो जातकर्म-नामकरणादि संस्कार तो प्रायः किये ही नहीं जाते, उपनयन होता है। संस्कारोंके स्थानपर शास्त्रविरुद्ध आयोजन किये जाते हैं और उपनयनमें कहीं-कहीं बड़ा आडम्बर किया जाता है। तरह-तरहके खेल होते हैं, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता है। गरीबोंको न देकर व्यर्थ ही पार्टियाँ की जाती हैं। ये सब फिजूलखर्च और कुरीतियाँ हैं। अतः इन सब आडम्बरोंको बंद करके केवल शास्त्र-विधिके अनुसार उपनयन-संस्कार होना चाहिये।

मरनेके पश्चात् मृतकके लिये तिलाञ्जलि, दशगात्र, नारायणबलि, सपिण्डी-श्राद्ध, यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन और अत्यन्त निकटवर्ती कुटुम्बियोंको भोजन करानेके अतिरिक्त जो व्यर्थ खर्च किया जाता है, उसको बिलकुल बंद कर देना चाहिये।

भारतमें गो-जातिका भी दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गो-जातिकी हत्या होती है और उनका चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें भेजा जाता है। इस कारण भारतवासियोंको घी-दूधका मिलना दुर्लभ-सा हो चला है। लोग घीकी जगह नकली घी—जमाया तेल (वेजिटेबल) व्यवहारमें लाते हैं, जो स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर है। विदेशोंसे हजारों टन सुखाये हुए दूधका पाउडर तथा रिफाइंड तेलके नामसे जानवरोंकी चर्बी भारतमें आती है,

****

अब तो अमेरिकासे घी भी आ रहा है ! यह हमारे लिये बड़े ही दुःख और लज्जाकी बात है। जिस देशके एक ही प्रान्तमें करोड़ों दुधारू गायें रहती थीं, आज वहाँ वैसी दुधारू गायें हजारों भी नहीं मिलतीं। इस बातपर विचार करके सारे देशमें गो-धनकी वृद्धि हो, इसका विशेषरूपसे प्रयत्न होना चाहिये और कानूनसे गो-हत्या कतई बंद कर देनी चाहिये।

कोई-कोई भाई कहते हैं कि चौदह वर्षसे अधिक उम्रकी बूढ़ी गायोंकी यदि हत्या न की जायगी तो अच्छी गायोंके लिये चारा नहीं मिलेगा। पर यह उनकी दूरदर्शिता नहीं है। प्रथम तो चौदह वर्षके बतलाकर झूठे सर्टिफिकेट प्राप्त कर लिये जाते हैं और इस प्रकार दुनियाको धोखा देकर कम उम्रके गाय, बैल और बछड़े, बछड़ियाँ आदि भी प्रत्यक्ष अधिक संख्यामें मारे जा रहे हैं, कलकत्ते तथा बम्बई आदिके कसाईखानोंमें जाकर देख सकते हैं। दूसरे बूढ़ी गाय भी जो गोबर-गोमूत्र करती है, उसकी ही खादसे अन्न और घासकी उपज इतनी अधिक होती है कि उससे उन वृद्ध गायोंका अनायास ही पालन हो सकता है। उनकी खूराकके लिये चिन्ता करना ही भूल है। फिर स्थान-स्थानपर अच्छे गो-सदनोंकी स्थापना करके ऐसी गायोंको बचाना सरकार तथा जनताका धर्म है।

सिनेमा (चलचित्र) का प्रचार-प्रसार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, मनोरञ्जनकी सामग्री तथा कला-व्यवसायके नामपर सरकार भी इसमें पर्याप्त सहायता कर रही है, परंतु इससे देशका कितना भयानक नैतिक पतन हो रहा है, आर्य स्त्रियोंकी सांस्कृतिक प्रतिष्ठाका कितना घोर विनाश हो रहा है, धन, स्वास्थ्य, धर्म तथा सदाचारकी कितनी असह्य हानि हो रही है, इसकी ओर बहुत कम लोगोंका ध्यान है। दिनोंदिन

****

बढ़नेवाली चरित्रहीनता सिनेमाका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है, परंतु क्या किया जाय, विनाशको ही उत्थान माना जा रहा है; तथापि हमारी सरकार तथा देशके विचारशील पुरुषोंसे यह साग्रह अनुरोध है कि वे इसकी भीषणं बुराइयोंको समझें और जनताको उससे बचानेका समुचित प्रयत्न करें।

इधर हमारे देशमें डाक्टरोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। साथ-ही-साथ बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। खेद तो इस बातका है कि अच्छे-अच्छे वैद्य भी पैसेके लोभसे अपने लड़कोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं—डाक्टरी दवाओंका मूल्य इतना अधिक है कि भारतकी गरीब जनता उसे सहन नहीं कर सकती। कोई गरीब भाई बीमार पड़ जाता है और यदि वह डाक्टरी इलाज करवाता है तो डाक्टर और कम्पाउंडरकी फीस, उनका वाहन-भाड़ा, इंजेक्शन-दवा आदिकी कीमत सब मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि उस गरीबका एक मासका वेतन एक ही दिनमें स्वाहा हो जाता है। गरीब भाइयोंको इलाजके लिये न तो कोई ऋण देता है और न कोई माँगनेपर ही कुछ देता है। बिना द्रव्यके कोई डाक्टर फ्री इलाज नहीं करता। कई भाई तो खर्चकी तंगीके कारण बिना इलाजके तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। थाइसिस (यक्ष्मा) के रोगीको तो हरेक जगह रहनेके लिये स्थान भी नहीं मिलता तथा सेनिटोरियमका इलाज इतना महँगा पड़ता है कि एक गरीब भाई उसे किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। यक्ष्माके रोगके कारण आदमी मरता तो है ही, पर रोगकी चिन्ता और धनाभावके कारण इलाजकी चिन्तासे भी जलता रहता है। किंतु विदेशी दवाओंका मोह इतना बढ़ गया है कि यह सब सहकर भी रोगी उसीकी इच्छा करता है।

****

विदेशी दवाइयाँ हमारे शरीरोंको अनुकूल भी नहीं पड़तीं तथा इनके लिये विदेशोंके पराधीन भी होना पड़ता है। गरीब भारतके लिये खर्च भी बढ़ता है। साथ ही डाक्टरी दवाओंमें मछलीका तेल, घोड़ेका खून, गायका पित्त, शराब, अण्डा, पशु-पक्षियोंका मांस, खून, चर्बी आदिका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है, अतः इनमें अपवित्रता और अत्यधिक हिंसा होनेके कारण धर्मकी भी विशेष हानि है।

आयुर्वेदकी चिकित्सा उच्चकोटिकी, धर्मयुक्त, त्रिकालज्ञ ऋषियोंके महत्त्वपूर्ण अनुभवसे युक्त, कम खर्चीली, पवित्र और अद्भुत चमत्कार दिखानेवाली ओषधियोंसे परिपूर्ण है। जड़ी-बूटी और काष्ठादि औषधसे कम पैसोंमें ही इलाज हो जाता है और खर्चीला जीवन न होनेसे वैद्योंकी फीस भी डाक्टरोंसे कम ही है; किंतु दुःखकी बात है कि चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि त्रिकालज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित आयुर्वेदके ग्रन्थोंकी अवहेलना होती जा रही है, जो कि देशके लिये घातक है और ओषधियोंका ज्ञान न होने तथा उनके प्रति आदर न होनेके कारण यह महान् विज्ञान हमारे देशसे नष्ट होता जा रहा है।

अतएव सरकारसे और धनी महानुभावोंसे हमारा अनुरोध है कि आयुर्वेदिक चिकित्सालय जगह-जगह खोले जायँ, जिनसे सस्ती और शुद्ध चिकित्सा हो सके एवं आयुर्वेदकी शिक्षा-दीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर आयुर्वेदके विद्यालय भी खोले जायँ। आयुर्वेदकी रक्षा और वृद्धिके लिये धनी-मानी देशवासियोंको और सरकारको विशेष ध्यान देकर प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, हमारे देशसे एक बहुत बड़े विज्ञानकी हानि हो सकती है, जिसकी पूर्ति पुनः सहज सम्भव नहीं।

देशमें आजकल स्कूल और कालेजोंमें जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उससे वस्तुतः देशके बालकोंकी बड़ी हानि हो रही है। वे हमारी भारतीय

बढ़नेवाली चरित्रहीनता सिनेमाका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है, परंतु क्या किया जाय, विनाशको ही उत्थान माना जा रहा है; तथापि हमारी सरकार तथा देशके विचारशील पुरुषोंसे यह साग्रह अनुरोध है कि वे इसकी भीषणं बुराइयोंको समझें और जनताको उससे बचानेका समुचित प्रयत्न करें।

इधर हमारे देशमें डाक्टरोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। साथ-ही-साथ बीमारियाँ भी बढ़ रही हैं। खेद तो इस बातका है कि अच्छे-अच्छे वैद्य भी पैसेके लोभसे अपने लड़कोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं—डाक्टरी दवाओंका मूल्य इतना अधिक है कि भारतकी गरीब जनता उसे सहन नहीं कर सकती। कोई गरीब भाई बीमार पड़ जाता है और यदि वह डाक्टरी इलाज करवाता है तो डाक्टर और कम्पाउंडरकी फीस, उनका वाहन-भाड़ा, इंजेक्शन-दवा आदिकी कीमत सब मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि उस गरीबका एक मासका वेतन एक ही दिनमें स्वाहा हो जाता है। गरीब भाइयोंको इलाजके लिये न तो कोई ऋण देता है और न कोई माँगनेपर ही कुछ देता है। बिना द्रव्यके कोई डाक्टर फ्री इलाज नहीं करता। कई भाई तो खर्चकी तंगीके कारण बिना इलाजके तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। थाइसिस (यक्ष्मा) के रोगीको तो हरेक जगह रहनेके लिये स्थान भी नहीं मिलता तथा सेनिटोरियमका इलाज इतना महँगा पड़ता है कि एक गरीब भाई उसे किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। यक्ष्माके रोगके कारण आदमी मरता तो है ही, पर रोगकी चिन्ता और धनाभावके कारण इलाजकी चिन्तासे भी जलता रहता है। किंतु विदेशी दवाओंका मोह इतना बढ़ गया है कि यह सब सहकर भी रोगी उसीकी इच्छा करता है।

विदेशी दवाइयाँ हमारे शरीरोंको अनुकूल भी नहीं पड़तीं तथा इनके लिये विदेशोंके पराधीन भी होना पड़ता है। गरीब भारतके लिये खर्च भी बढ़ता है। साथ ही डाक्टरी दवाओंमें मछलीका तेल, घोड़ेका खून, गायका पित्त, शराब, अण्डा, पशु-पक्षियोंका मांस, खून, चर्बी आदिका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है, अतः इनमें अपवित्रता और अत्यधिक हिंसा होनेके कारण धर्मकी भी विशेष हानि है।

आयुर्वेदकी चिकित्सा उच्चकोटिकी, धर्मयुक्त, त्रिकालज्ञ ऋषियोंके महत्त्वपूर्ण अनुभवसे युक्त, कम खर्चीली, पवित्र और अद्भुत चमत्कार दिखानेवाली ओषधियोंसे परिपूर्ण है। जड़ी-बूटी और काष्ठादि औषधसे कम पैसोंमें ही इलाज हो जाता है और खर्चीला जीवन न होनेसे वैद्योंकी फीस भी डाक्टरोंसे कम ही है; किंतु दुःखकी बात है कि चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि त्रिकालज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित आयुर्वेदके ग्रन्थोंकी अवहेलना होती जा रही है, जो कि देशके लिये घातक है और ओषधियोंका ज्ञान न होने तथा उनके प्रति आदर न होनेके कारण यह महान् विज्ञान हमारे देशसे नष्ट होता जा रहा है।

अतएव सरकारसे और धनी महानुभावोंसे हमारा अनुरोध है कि आयुर्वेदिक चिकित्सालय जगह-जगह खोले जायँ, जिनसे सस्ती और शुद्ध चिकित्सा हो सके एवं आयुर्वेदकी शिक्षा-दीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर आयुर्वेदके विद्यालय भी खोले जायँ। आयुर्वेदकी रक्षा और वृद्धिके लिये धनी-मानी देशवासियोंको और सरकारको विशेष ध्यान देकर प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो, हमारे देशसे एक बहुत बड़े विज्ञानकी हानि हो सकती है, जिसकी पूर्ति पुनः सहज सम्भव नहीं।

देशमें आजकल स्कूल और कालेजोंमें जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उससे वस्तुतः देशके बालकोंकी बड़ी हानि हो रही है। वे हमारी भारतीय

संस्कृतिसे वञ्चित रहकर पाश्चात्त्य संस्कृतिमें रँगे जाते हैं। बालकोंमें सदाचार, सद्गुण, ईश्वरभक्ति, बड़ोंके प्रति आदरभाव और लज्जाका, जो हमारी भारतीय संस्कृतिके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं, दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। इसके विपरीत पाश्चात्त्य सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, साथ ही दुर्गुण, दुराचार, नास्तिकता, विलासिता, उद्दण्डता, आलस्य-प्रमाद और निर्लज्जता बढ़ती जा रही है, जो कि बालकोंके लिये और देशके लिये अत्यन्त हानिकारक है; क्योंकि देशकी भावी उन्नति प्रायः बालकोंपर ही विशेष निर्भर करती है। इनका जैसा भाव और चरित्र होगा, वैसा ही देशका स्वरूप हो सकता है। हमारे देशके बड़े-बड़े अधिकारी भी इस बातको जानते हैं तथा स्वीकार करते हैं, किंतु अभीतक इसका सुधार नहीं हो पाया है। अतएव इसपर शीघ्र ध्यान देना चाहिये और बालकोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे भारतीय संस्कृतिका ज्ञान बढ़े और उनकी शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, भौतिक, व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति हो। [illegible] सर्वाङ्गीण उन्नतिसे ही देशकी उन्नति है। इसलिये [illegible]-दीक्षाका सुधार विशेषरूपसे होना चाहिये।

इस समय हिंदू-धर्मपर भी भारी आघात हो रहा है। धर्मके प्रचारकी बात तो दूर रही, बल्कि उसके पालन करनेवालोंपर विपत्तिके पहाड़ टूट रहे हैं। हमारे ईसाई और मुसलमान भाई अपने धर्मका प्रचार करते हैं, उसमें सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है; बल्कि मस्जिदोंके लिये भारत-सरकार समय-समयपर पर्याप्त सहायता करती है। ईसाई भाइयोंको अमेरिका आदि देशोंसे धनकी पर्याप्त सहायता मिलती रहती है। उनके लिये भी सरकारकी ओरसे कोई रुकावट नहीं है। दुःखकी बात है कि जो सुविधा और सहायता मुसलमान और

ईसाई भाइयोंको उनके धर्म-प्रचारके लिये मिलती है; कम-से-कम उतनी तो हिंदुस्थानमें हिंदुओंको मिलनी ही चाहिये, नहीं तो हिंदू-धर्मका ह्रास होकर हिंदुस्थानमें मुसलमान और ईसाइयोंकी संख्या ही अधिक मात्रामें बढ़ सकती है, जिससे आगे चलकर भारत-सरकारके लिये विशेष कठिनाई हो सकती है। भारतमें प्रतिवर्ष ईसाइयोंकी संख्या जोरोंसे बढ़ रही है। इस बाढ़में सरकारको न्याययुक्त रुकावट डालनी चाहिये। इसी प्रकार मुसलमान भाइयोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। मुसलमान भाई चार स्त्रियोंके साथ विवाह करके दो सालमें चार संतान उत्पन्न कर सकते हैं; किंतु हिंदू एक ही स्त्रीके साथ विवाह करके दो वर्षमें एक संतान ही पैदा कर सकता है। यद्यपि एक स्त्रीके साथ विवाह करना ही आदर्श है, परंतु यह आदर्श भारतमें सभी वर्गके लोगोंके लिये होना चाहिये। इसलिये भारतमें जो कोई भी कानून बने वह केवल हिंदुओंके लिये ही नहीं, मुसलमान, ईसाई सभीपर लागू होना चाहिये।

हिंदू भाइयोंसे प्रार्थना है कि जैसे ईसाई भाई अपने धर्म और जातिकी उन्नतिके लिये अपने धर्मकी पुस्तकें बहुत कम दामोंमें बेचते हैं, इसी प्रकार कम दामोंमें अपने हिंदू-धर्मकी पुस्तकोंका प्रचार करना चाहिये। ईसाई भाई जिनको ईसाई बनाते हैं, उनके रोगादिकी निवृत्तिके लिये अस्पताल और विद्याके लिये विद्यालय आदि खोलते हैं और साथ ही उनमें अपने ईसाई-धर्मकी शिक्षा भी देते हैं। इसी प्रकार हिंदू भाइयोंको तमाम हिंदुओंके लिये छोटे-से-छोटे स्थानमें भी बिना मूल्य शिक्षा-चिकित्सा तथा सेवा और सहायताकी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये और पाठशाला-विद्यालयोंमें अन्य शिक्षाके साथ कम-से-कम गीता-रामायण आदिकी पढ़ाई तो अनिवार्य करनी चाहिये।

देशकी सर्वमान्य भाषा संस्कृत, राष्ट्रभाषा हिंदी और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रीय लिपि होनी चाहिये। इनमें संस्कृतपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि हमारी संस्कृतिका स्रोत संस्कृतमें ही है। हमारे सब धार्मिक ग्रन्थ संस्कृतमें ही हैं तथा संस्कृत ही हमारी आदि भाषा है। इसमें थोड़ेसे शब्दोंमें ही बहुत अर्थ और भावसे युक्त विषय भरे जा सकते हैं। संस्कृतमें एक धातुके सैकड़ों रूप बनते हैं, जो दूसरी भाषाओंमें कदापि सम्भव नहीं। ऐसी अनेक विशेषताओंसे सम्पन्न संस्कृत भाषा ही है। अतः सभीको इसकी सब प्रकारसे रक्षा और उन्नति करनी चाहिये।

इस लेखमें मैंने कुछ आवश्यक विषयोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है, इसपर यदि ध्यान दिया जाय तो देशवासियोंका बड़ा हित है और मैं आप सबका आभारी होऊँगा।



दानका रहस्य

दानमें महत्त्व है त्यागका, वस्तुके मूल्य या संख्याका नहीं। ऐसी त्यागबुद्धिसे जो सुपात्रको यानी जिस वस्तुका जिसके पास अभाव है, उसे वह वस्तु देना और उसमें किसी प्रकारकी कामना न रखना उत्तम दान है। निष्कामभावसे किसी भूखेको भोजन और प्यासेको जल देना सात्त्विक दान है। संत श्रीएकनाथजीकी कथा आती है कि वे एक समय प्रयागसे काँवरपर जल लेकर श्रीरामेश्वर चढ़ानेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें जब एक जगह उन्होंने देखा कि एक गदहा प्यासके कारण पानीके बिना तड़प रहा है, उसे देखकर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया, इससे उसे कुछ चेत-सा हुआ। फिर उन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके सब जल उसे पिला दिया। वह गदहा उठकर चला गया। साथियोंने सोचा कि त्रिवेणीका जल व्यर्थ ही गया और यात्रा भी निष्फल हो गयी। तब एकनाथजीने हँसकर कहा—'भाइयो, बार-बार सुनते हो, भगवान् सब प्राणियोंके अंदर हैं, फिर भी ऐसे बावलेपनकी बात सोचते हो ! मेरी पूजा तो यहींसे श्रीरामेश्वरको पहुँच गयी। श्रीशङ्करजीने मेरे जलको स्वीकार कर लिया।'

एक महाजनकी कहानी है कि वह सदैव यज्ञादि कर्मोंमें लगा रहता था। उसने बहुत दान किया। इतना दान किया कि उसके पास खानेको भी कुछ न रह गया। तब उसकी स्त्रीने कहा—'पासके गाँवमें एक सेठ रहते हैं, वे पुण्योंको मोल खरीदते हैं, अतः आप उनके पास जाकर और अपना कुछ पुण्य बेचकर द्रव्य ले आइये, जिससे अपना कुछ काम चले।' इच्छा न रहते हुए भी स्त्रीके बार-बार कहनेपर वह जानेको उद्यत हो गया। उसकी स्त्रीने उसके खानेके लिये चार रोटियाँ बनाकर साथ दे दीं। वह

चल दिया और उस नगरके कुछ समीप पहुँचा, जिसमें वे सेठ रहते थे। वहाँ एक तालाब था। वहीं शौच-स्नानादि कर्मोंसे निवृत्त होकर वह रोटी खानेके लिये बैठा कि इतनेमें एक कुतिया आयी। वह वनमें ब्यायी थी। उसके बच्चे और वह, सभी तीन दिनोंसे भूखे थे; भारी वर्षा हो जानेके कारण वह बच्चोंको छोड़कर शहरमें नहीं जा सकी थी। कुतियाको भूखी देखकर उसने उस कुतियाको एक रोटी दी। उसने उस रोटीको खा लिया। फिर दूसरी दी तो उसको भी खा लिया। इस प्रकार उसने एक-एक करके चारों रोटियाँ कुतियाको दे दीं। कुतिया रोटी खाकर तृप्त हो गयी। फिर, वह वहाँसे भूखा ही उठकर चल दिया तथा उस सेठके पास पहुँचा। सेठके पास जाकर उसने अपना पुण्य बेचनेकी बात कही। सेठने कहा—'आप दोपहरके बाद आइये।'

उस सेठकी स्त्री पतिव्रता थी। उसने स्त्रीसे पूछा—'एक महाजन आया है और वह अपना पुण्य बेचना चाहता है। अतः तुम बताओ कि उसके पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य सबसे बढ़कर लेने योग्य है।' स्त्रीने कहा—'आज जो उसने तालाबपर बैठकर एक भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, उस पुण्यको खरीदना चाहिये; क्योंकि उसके जीवनमें उससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है।' सेठ 'ठीक है'—ऐसा कहकर बाहर चले आये।

नियत समयपर महाजन सेठके पास आया और बोला—'आप मेरे पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य खरीदेंगे?' सेठने कहा—'आपने आज जो यज्ञ किया है, हम उसी यज्ञके पुण्यको लेना चाहते हैं।' महाजन बोला—'मैंने तो आज कोई यज्ञ नहीं किया। मेरे पास पैसा तो था हीं नहीं, मैं यज्ञ कहाँसे कैसे करता।' इसपर सेठने कहा—'आपने जो आज तालाबपर बैठकर भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, मैं उसी

****

पुण्यको लेना चाहता हूँ। महाजनने पूछा—'उस समय तो वहाँ कोई नहीं था, आपको इस बातका कैसे पता लगा ?' सेठने कहा—'मेरी स्त्री पतिव्रता है, उसीने ये सब बातें मुझे बतायी हैं।' तब महाजनने कहा—'बहुत अच्छा' ले लीजिये; परंतु मूल्य क्या देंगे ? सेठने कहा—'आपकी रोटियाँ जितने वजनकी थीं, उतने ही हीरे-मोती तौलकर मैं दे दूँगा।' महाजनने स्वीकार किया और उसकी सम्मतिके अनुसार सेठने अंदाजसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनाकर तराजूके एक पलड़ेपर रखीं और दूसरे पलड़ेपर हीरे-मोती आदि रख दिये; किंतु बहुत-से रत्नोंके रखनेपर भी वह (रोटीवाला) पलड़ा नहीं उठा। इसपर सेठने कहा—'और रत्नोंकी थैली लाओ।' जब उस महाजनने अपने इस पुण्यका इस प्रकारका प्रभाव देखा तो उसने कहा कि 'सेठजी ! मैं अभी इस पुण्यको नहीं बेचूँगा।' सेठ बोला—'जैसी आपकी इच्छा।'

तदनन्तर वह महाजन वहाँसे चल दिया और उसी तालाबके किनारेसे, जहाँ बैठकर उसने कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, थोड़े-से चमकदार कंकड़-पत्थरों तथा काँचके टुकड़ोंको कपड़ेमें बाँधकर अपने घर चला आया। घर आकर उसने वह पोटली अपनी स्त्रीको दे दी और कहा— 'इसको भोजन करनेके बाद खोलेंगे।' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया। स्त्रीके मनमें उसे देखनेकी इच्छा हुई। उसने पोटलीको खोला तो उसमें हीरे-पन्ने-माणिक आदि रत्न जगमगा रहे थे। वह बड़ी प्रसन्न हुई। थोड़ी देर बाद जब वह महाजन घर आया तो स्त्रीने पूछा—'इतने हीरे-पन्ने कहाँसे ले आये ?' महाजन बोला—'क्यों मजाक करती हो ?' स्त्रीने कहा—'मजाक नहीं करती, मैंने स्वयं खोलकर देखा है, उसमें तो ढेर-के-ढेर बेशकीमती हीरे पन्ने भरे हैं।'

महाजन बोला—'लाकर दिखाओ।' उसने पोटली लाकर खोलकर सामने रख दी। वह उन्हें देखकर चकित हो गया। उसने इसको अपने उस पुण्यका प्रभाव समझा। फिर उसने अपनी यात्राका सारा वृत्तान्त अपनी पत्नीको कह सुनाया।

कहनेका अभिप्राय यह कि ऐसे अभावग्रस्त आतुर प्राणीको दिये गये दानका अनन्तगुना फल हो जाता है, भगवान्‌की दयाके प्रभावसे कंकड़-पत्थर भी हीरे-पन्ने बन जाते हैं।

इस प्रकार दीन-दुःखी, आतुर और अनाथको दिया गया दान उत्तम है। किसीके संकटके समय दिया हुआ दान बहुत ही लाभकारी होता है। भूकम्प, बाढ़ या अकाल आदिके समय आपद्ग्रस्त प्राणीको एक मुट्ठी चना देना भी बहुत उत्तम होता है। जो विधिपूर्वक सोना, गहना, तुलादान आदि दिया जाता है, उससे उतना लाभ नहीं, जितना आपत्तिकालमें दिये गये थोड़े-से दानका होता है। अतः हरेक मनुष्यको आपत्तिग्रस्त, अनाथ, लूले, लँगड़े, दुःखी, विधवा आदिकी सेवा करनी चाहिये। कुपात्रको दान देना तामसी दान है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दिया हुआ दान राजसी है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा भी पतन करनेवाली है। आज तो यह मान-बड़ाई हमें मीठी लगती है, पर उसका निश्चित परिणाम पतन है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये, बल्कि यदि किसी प्रकार निन्दा हो जाय तो वह अच्छी समझी जाती है। श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

निन्दक नियरें राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

इसलिये परम हितकी दृष्टिसे मान-बड़ाईके बदले संसारमें

****

अपमान-निन्दा होना उत्तम है। साधकके लिये मान-बड़ाई मीठा विष है और अपमान-निन्दा अमृतके तुल्य है। इसीलिये निन्दा करनेवालेको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये; परंतु कोई भी निन्दनीय पापाचार नहीं करना चाहिये। दुर्गुण-दुराचार बड़े ही खतरेकी चीज है। इसलिये इनका हृदयसे त्याग कर देना चाहिये। अपने सद्‌गुणोंको छिपाकर दुर्गुणोंको प्रकट करना चाहिये। आजकल लोग सच्चे दुर्गुणोंको छिपाकर बिना हुए ही अपनेमें सद्‌गुणोंका संग्रह बताकर उनका प्रचार करते हैं, यह सीधा नरकका रास्ता है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छा हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये। संसारमें हमारी प्रतिष्ठा हो रही है और हम यदि उसके योग्य नहीं हैं तो हमारा पतन हो रहा है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा चाहनेवालेसे भगवान् दूर हो जाते हैं; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा पतनमें ढकेलनेवाली है। मान-बड़ाईको रौरवके समान और प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझना चाहिये। यही संतोंका आदेश है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सुपात्रको दिया गया दान दोनोंके लिये ही कल्याणकारी है। कुपात्रको दिया गया दान दोनोंको डुबानेवाला है। जैसे पत्थरकी नौका बैठनेवालेको साथ लेकर डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र दाताको साथ लेकर नरकमें जाता है।

दानके सम्बन्धमें एक बात और समझनेकी है। बड़े धनी पुरुषके द्वारा दिये गये लाखों रुपयोंके दानसे निर्धनके एक रुपयेका दान अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि निर्धनके लिये एक रुपयेका दान भी बहुत बड़ा त्याग है। भगवान्‌के यहाँ न्याय है। ऐसा न होता तो फिर निर्धनोंकी मुक्ति ही नहीं होती। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजा प्रजाजनोंके सहित तीर्थ करनेके लिये गये। रास्तेमें एक आदमी नंगा पड़ा था, ठंडके कारण ठिठुर रहा था। राजाके साथी प्रजाजनोंमें एक जा

उसने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती उस नंगे आदमीको दे दी, इससे उसके प्राण बच गये। जाटके पास पहननेको एक ही धोती रह गयी। आगे जब वे दूर गये तो वहाँ बहुत कड़ी धूप थी, पर उन्होंने देखा कि बादल उनपर छाया करते चले जा रहे हैं। राजाने सोचा कि 'हमारे पुण्यके प्रभावसे ही बादल छाया करते हुए चल रहे हैं।' तदनन्तर वे एक जगह किसी वनमें ठहरे। जब चलने लगे, तब किसी महात्माने पूछा—'राजन्! तुम्हें इस बातका पता है कि ये बादल किसके प्रभावसे छाया करते हुए चल रहे हैं?' राजा कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। तब महात्माने कहा—'अच्छा, तुम एक-एक करके यहाँसे निकलो। जिसके साथ बादल छाया करते हुए चलें, इसको उसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव समझना चाहिये।' तब पहले राजा वहाँसे चले, फिर एक-एक करके सब प्रजाजन चले, पर बादल वहीं रहे। तब राजाने कहा—'देखो तो, पीछे कौन रह गया है।' सेवकोंने देखा कि वहाँ एक जाट सोया पड़ा है। उसे उठाकर वे राजाके पास लाये, तब बादल भी उसके साथ-साथ छाया करते चलने लगे। तब महात्मा बोले—'यह इसी पुण्यवान्‌के पुण्यका प्रभाव है।' राजाने उससे पूछा—'तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है?' बार-बार पूछनेपर उसने कहा कि 'मैंने और तो कोई पुण्य नहीं किया, अभी रास्तेमें मैंने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती रास्तेमें पड़े जाड़ेसे ठिठुरते हुए एक नंगे मनुष्यको दी थी।'

इसपर महात्माने राजासे कहा—'राजन्! तुम बड़ा दान करते हो, परंतु तुम्हारे पास अतुल सम्पत्ति है, इसलिये तुम्हारा त्याग दो धोतीमेंसे एक दे डालनेके समान नहीं हो सकता।'

इस प्रकार दानका रहस्य समझकर दान करना चाहिये।

══★══

स्त्रियोंके लिये स्वार्थत्यागकी शिक्षा

स्त्रियोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये तथा पुरुषोंके साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिये, यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

भगवान्‌को प्रसन्न करना अर्थात् भगवान्‌की प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य और एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। स्वार्थत्यागपूर्वक सबकी सेवा करनेसे सब प्रसन्न होते हैं और सबके प्रसन्न होनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेसे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

माता-बहिनोंको आपसमें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसमें ये दो बातें स्मरण रखनेकी हैं। एक तो यह कि मेरे व्यवहारसे सबको प्रसन्नता कैसे हो और दूसरे, यह समझना चाहिये कि परमात्मा सबमें विराजमान हैं, सब परमात्माके ही रूप हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है और यों समझकर हर प्रकारसे अपने द्वारा जैसे ही बने, निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

जैसे स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनमें रत होता है, वैसे ही सबके हितमें रत होना बहुत उच्चकोटिकी सेवा है और यही माता-बहिनोंका लक्ष्य होना चाहिये। इसके तीन भेद हैं—

(१) जो वर्ण, आश्रम, पद, अवस्था और ज्ञानमें अपनेसे बड़े हैं, चाहे स्त्री हों या पुरुष, उनकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा करना।

(२) जो बराबरकी अवस्थावाले, समान श्रेणीवाले हैं, उनक मित्रभावसे सेवा करना।

(३) जो अपनेसे किसी भी प्रकारसे छोटे हैं, उनकी वात्सल्यभावसे सेवा करना।

इस प्रकार सेवामें यथायोग्य दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव रखना चाहिये। किसी भी रूपमें जो हमारे बड़े, पूज्य और स्वामी हैं, उनको मालिक समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करना—दास्यभाव है। जैसे स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है, पुत्र अपने माता-पिताकी सेवा करते हैं और शिष्य अपने गुरुकी सेवा करते हैं तो यह दास्यभाव है। बराबरवालोंके साथ जो मित्रताका भाव है, वह सख्यभाव है और छोटोंके प्रति जो स्नेहयुक्त पालन-पोषण-रक्षणका भाव है, वह वात्सल्यभाव है। तीनोंमें उद्देश्य एक ही है—उनको सुख पहुँचाना। इस प्रकारके भावोंसे परस्पर प्रेम बढ़ता है और ऐसे हेतुरहित प्रेमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वास्तवमें यह प्रेम भगवान्में ही है; क्योंकि उसकी सबमें भगवद्बुद्धि है और सबकी सेवा ही भगवान्की सेवा है, इस निश्चयसे ही निःस्वार्थ सेवा की जाती है। इसलिये उस सेवा करनेवालेका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसका दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है। उसके व्यवहारसे दूसरे भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उसका अनुकरण करनेकी अर्थात् उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी परम सेवा है।

स्त्रीका कर्तव्य है कि वह ससुरालमें अपनी सास और जेठानी आदिको जन्म देनेवाली माँसे भी बढ़कर समझे और यह निश्चय करे कि मैं यदि सेवाके द्वारा इनको प्रसन्न कर लूँगी तो भगवान् प्रसन्न होंगे; इसी भावसे उनकी सेवा करे। जो कार्य अपने मनके अनुकूल न होनेपर भी उनके मनके अनुकूल हो, वही करे; अपनी प्रतिकूलताकी परवा न करके उनकी अनुकूलताका आदर करे। उनकी प्रसन्नताको ही प्रधानता

दे। परंतु यदि किसी पापकर्मसे उनको प्रसन्नता होती हो तो वह पाप कभी भूलकर भी न करे। बड़ोंको सुख पहुँचानेके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सह ले; परंतु उनकी पापमयी आज्ञाका पालन न करे; क्योंकि उसके पालनसे उनका भी हित नहीं है। पापके लिये आज्ञा देनेवाले और उस आज्ञाका पालन करनेवाले—दोनों ही नरकमें जाते हैं। इसलियें हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि करनेकी पापमयी आज्ञा बड़े लोग दें तो उनका पालन नहीं करना चाहिये। ऐसी दुष्ट आज्ञाओंका पालन न करनेसे आज्ञा देनेवाले भी नरकसे बच सकते हैं। फिर चाहे आज्ञा न माननेके कारण अपनेको नरकमें ही जाना पड़े; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार स्वार्थ-त्याग करके दूसरोंको नरकसे बचानेवाली स्त्रीको नरकमें डालनेकी शक्ति यमराजमें भी नहीं है।

त्यागमूर्ति श्रीभरतजीने अपनी माताकी अनुचित आज्ञाका पालन नहीं किया तो इससे क्या वे नरकमें गये ? भरतजीने चित्रकूटमें जाकर यह कहा कि 'मैं तो पिताकी तथा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके यहाँ आया हूँ, फिर भी आप मेरी प्रशंसा करते हैं' इसमें कितना ऊँचा ध्येय है। भरतजीको इन लोगोंने जो राज्यपद स्वीकार करनेकी आज्ञा दी, वह भरतजीकी दृष्टिमें न्याययुक्त नहीं थी। इसलिये भरतजीने उसका पालन नहीं किया। इसी प्रकार राजा बलिने भी गुरुकी आज्ञाका त्याग कर दिया था, किंतु इससे वे नरकमें नहीं गये; बल्कि उनको उत्तम पदकी प्राप्ति ही हुई। अतएव यदि कोई नीति, धर्म अथवा ईश्वरकी भक्तिके विपरीत आज्ञा दे और उस पापमयी आज्ञाको हम अनुचित समझकर सबके हितके उद्देश्यसे पालन न करें तो इससे हमें कोई पाप नहीं होता, बल्कि उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। परम

भक्त प्रह्लादजीको जब पिताने कहा कि तुम ईश्वरकी भक्ति मत करो, तब उन्होंने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी। इसके अतिरिक्त पिताकी प्रत्येक कठोर-से-कठोर आज्ञाका पालन कर दारुण अत्याचार सहते रहे। पिताने जो भी निर्दय दण्डविधान किया, उन्होंने प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें बड़ोंकी अन्य सारी बातें माननी चाहिये, किंतु जो धर्म और ईश्वरकी भक्तिके विरुद्ध हों, उन बातोंको कभी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि बड़ोंको नरकसे बचाने तथा उनका परम हित करनेके लिये उनका न मानना ही उपयुक्त है।

आपके साथ जिनका बराबरका पद है, जो आपकी सखी हैं, जिनके साथ आपका प्रेम है और जिनकी अवस्था आदि समान है, उनके साथ मैत्रीभावनासे, अपने स्वार्थका त्याग करते हुए उनका हित करके उन्हें हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे सुख पहुँचानेसे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है और अपने उत्तम व्यवहारका उनपर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उनका भी सुधार और उद्धार हो सकता है।

अपनेसे जो छोटे हैं, उनका पालन-पोषण, शिक्षण, संरक्षण तथा शुद्ध मनोरञ्जनरूपी सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहिये। यही वात्सल्यभाव है। अपने बालकोंसे भी बढ़कर अपनी देवरानी-जेठानीके बालकोंको अथवा यदि पीहरमें हों तो भाई और बहिनके बालकोंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो कुछ भी मेवा-मिठाई, फल तथा खिलौने आदि हों, अपने बालकोंकी अपेक्षा उनके बालकोंको अधिक बढ़िया और प्रथम देना चाहिये।

बहुओंका कर्तव्य है कि वे सासको माँसे भी बढ़कर समझें और उनकी आज्ञाका पालन करें। माताकी बात किसी समय न भी मानी जाय

तो भी कोई हानि नहीं है, किन्तु सासकी बात न माननेसे उनको विशेष दुःख होता है, इसलिये उनकी बात अवश्य माननी चाहिये। जैसे भगवान्‌का भक्त बड़ी सावधानीसे ऐसी चेष्टा किया करता है, जिससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों, वैसे ही बहूका कर्तव्य है कि वह सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि पूजनीय जनोंको देवताओंसे भी बढ़कर माने और कर्तव्य समझकर उनको हर समय प्रसन्न करनेके लिये निष्काम प्रेमभावसे विशेष प्रयत्न करे तथा यह अनुभव करे कि इन सबमें भगवान् विराजमान हैं और मैं जो कुछ कर रही हूँ, उसे वे देख रहे हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं।

सासको अपने आश्रित बहू आदिके विषयमें यह समझना चाहिये कि बहू जो अपने माता-पिताको छोड़कर इस घरमें आयी है, वह उसकी लड़कीसे भी बढ़कर स्नेहकी पात्री है। अपनी लड़की और बहूमें कभी कोई अनबन या मतभेद हो जाय तो उसे अपनी पुत्रवधूका पक्ष लेना चाहिये, लड़कीका नहीं। लड़की माँपर कभी नाराज नहीं होती। वह हृदयमें समझती है कि यह मेरी माँ है, यह मेरे विपक्षमें कभी मेरे अहितकी बात नहीं कह सकती। किंतु बहूके हृदयमें तुरंत यह बात आ सकती है कि सास अपनी लड़कीका पक्ष करती है। सास यदि अपनी बेटी और बहूके साथ समान व्यवहार करती है तो भी बहूके चित्तमें यह शङ्का हो सकती है कि यह अपनी लड़कीका पक्ष कर रही है। इससे यही उचित है कि वह बहूके उचित मतका विशेषरूपसे पक्ष करे।

यदि मैं अपने निजी भाइयों या अपने आदमियोंका दूसरे पक्षवालोंके साथ कोई न्याय करने बैठूँगा और वह न्याय यदि नीतिके अनुसार भी करूँगा तब भी दूसरे पक्षवालोंको यह शङ्का हो सकती है

कि यह अपने भाइयोंका या अपने आदमियोंका पक्ष करता है। उस स्थलमें यदि मैं प्रतिपक्षियोंका सच्चा पक्ष लूँगा, उनके उचित कथनका समर्थन करूँगा और अपने पक्षवाले यदि उचित भी कहते होंगे तो उस विषयमें मैं कुछ चुप रहूँगा तो प्रतिपक्षियोंपर उसका ऐसा अच्छा असर पड़ेगा कि वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे और जो हमारे हैं वे तो हमारे हैं ही।

एक बातके लिये माता-बहिनोंसे मेरी विशेष प्रार्थना है कि उन्हें अपने स्वार्थके लिये अपने घरके पुरुषों—पीहरवालों या ससुरालवालोंको किसी चीजके लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। उत्तम बात तो यह है कि कोई अपने पीहरमें आये तो उसे किसी चीजकी माँग नहीं करनी चाहिये। पीहरवाले जितना, जो कुछ देना चाहें, उससे भी कम लेनेकी इच्छा रखे और चेष्टा भी वैसी ही करे। इसे सिद्धान्त समझकर इसका पालन करनेकी विशेष चेष्टा रखनी चाहिये। इसी प्रकार अपनी ससुरालमें भी अपने सास-ससुर जो कुछ देना चाहें, उससे कम ही लेनेकी इच्छा रखे और चेष्टा भी वैसी ही करे। स्वयं न लेकर, घरमें दूसरोंको जिन्हें आवश्यकता हो, उन्हें अमुक चीज दिला देनी चाहिये। पीहरमें माता-पिता, भाई जो कुछ देना चाहें, स्वयं उससे कम ले और अभिमानका त्याग करके दूसरी बहिनोंको अधिक दिलानेकी चेष्टा करे। इस प्रकारके व्यवहारसे प्रेम बढ़ता है, फिर लड़ाई-झगड़ा तो कभी हो ही नहीं सकता।

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जो सत्य, प्रिय, हित और मित हो अर्थात् थोड़े वचनोंमें सार-सार बात कहनी चाहिये। फालतू (व्यर्थ) बातें न करनी चाहिये। वाणीमें कठोरता और झूठ नहीं आना चाहिये। किसी दूसरेको दुःख हो, ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिये। कपटरहित,

****

मधुर, सत्य और हितकारक वचन ही बोलने चाहिये।

स्त्रीको कभी निकम्मी नहीं रहनी चाहिये। उत्तरोत्तर आत्मोन्नतिके लिये शरीरसे सदा काम लेते रहना चाहिये। जो स्त्री निकम्मी रहती है, उसका आलस्यके कारण पतन हो जाता है। शरीरका एक क्षणका भी कोई भरोसा नहीं है, न मालूम किस समय शान्त हो जाय; इसलिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखते हुए ही निःस्वार्थभावसे शरीरसे न्यायोचित काम, दूसरोंको दुःख न हो ऐसे करते ही रहना चाहिये। उत्तम कामकी हर वक्त खोज रखनी चाहिये।

सादगीसे रहना चाहिये। घरवालोंको बढ़िया कपड़े-गहने आदिके लिये न कहे और दबाव तो कभी डाले ही नहीं। वे घरकी परिस्थिति और सुविधाके अनुसार प्रसन्नतासे जो कुछ वस्त्र-आभूषण दें, उसीमें संतुष्ट रहे; बल्कि उससे कम लेनेका भाव रखे। स्वयं ऐसे त्यागका व्यवहार करना चाहिये कि जिसका उनपर प्रभाव पड़े और वे भी आपके अनुसार ही सबके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें। स्वार्थ-त्यागकी बड़ी भारी महिमा और सामर्थ्य है। स्वार्थत्यागपूर्वक जो व्यवहार किया जाता है, उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। स्वार्थत्यागके व्यवहारसे दूसरोंको बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी आगे जाकर स्वार्थके त्यागी बन जाते हैं।

मैं यदि आपके साथ स्वार्थका त्याग करके व्यवहार करता रहूँ तो सम्भव है आखिर आपमें भी यह भाव पैदा हो जाय और आप भी मेरे और दूसरोंके साथ स्वार्थत्यागका व्यवहार करने लगें; यह न्याय है। तथापि अपना सिद्धान्त तो यह रखना चाहिये कि अपने साथ कोई बदलेमें स्वार्थत्यागका व्यवहार न करे तो भी अपनेको तो स्वार्थ-त्यागपूर्वक ही व्यवहार करना है, बल्कि अपने साथ कोई बुराई करे तो

भी अपने तो उसका हित ही करना है। स्त्रियोंको इसपर ध्यान देकर ऐसा करना चाहिये।

किसीकी व्यर्थ निन्दा-चुगली कभी न करे तथा किसीमें कोई दोष हो तो भी उस दोषका वर्णन न करे। हाँ, उसके पूछने और आग्रह करनेपर यदि आपके कहनेसे उसका सुधार होनेकी आशा हो और वह बुरा न माने तो ऐसी अवस्थामें उसे बता देना कोई दोषकी बात नहीं है; किंतु जहाँतक हो, बिना पूछे नहीं बताना चाहिये। किसीमें कोई उत्तम गुण हो तो उसका वर्णन किया जा सकता है, पर वह गुण यथार्थमें होना चाहिये; झूठे गुणोंका वर्णन करना उचित नहीं।

किसीको नीचा दिखानेकी चेष्टा कभी न करे और न नीचा दिखानेका मनमें भाव ही रखे। किसीका अपमान भी कभी न करे और सबके हितकी चेष्टा करे; किंतु किसीका हित करके, उसे कभी किसीसे न कहे और न मनमें ही उसे याद रखे; क्योंकि याद रखनेसे अहङ्कार बढ़ता है और कह देनेसे किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। दूसरा कोई यदि अपने साथ बुरा व्यवहार करे तो उसकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, बल्कि बदलेमें उसका हित करना चाहिये। ऐसा व्यवहार बड़े ही उच्चकोटिका और सबका हित करनेवाला है।

किसीके भी साथ जो व्यवहार किया जाय, उसमें त्याग, विनय, प्रेम और उदारता होनी चाहिये। इस प्रकारके व्यवहारसे लोगोंपर निश्चय ही बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वे भी अच्छे बनते हैं। जब उत्तम व्यवहारसे परमात्मा प्रसन्न होते और मिलते हैं, तब हमको सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार ही करना चाहिये; क्योंकि फिर यह शरीर, ऐश्वर्य और धन हमारे क्या काम आयेंगे। अपने स्वार्थसाधन या अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसीसे मित्रता करना मित्रता नहीं है। मित्रता

तो उसके कल्याणके लिये करनी चाहिये। महात्मा पुरुष किसीसे मित्रता करते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही करते हैं। इसलिये माता-बहिनोंको चाहिये कि महात्माओंके इस मैत्री-व्यवहारको आदर्श मानकर दूसरोंके हितके लिये ही सबके साथ निष्कामभावसे मित्रता करें।

अपने पास कोई उत्तम वस्तु हो तो उसे अपनी सखीको अधिक देना चाहिये और उसको दुःख न हो, इस दृष्टिसे उसकी चीज भी काम पड़े तब, थोड़ी ले लेनी चाहिये। जैसे उसने फल भेजे, आम भेजे तो थोड़े रख लिये और शेष वापस लौटा दिये। अपने यहाँसे कोई चीज भेजें, तब उसने जो चीज भेजी थी, उससे चौगुने मूल्यकी और उसके उपयोगमें आने योग्य चीज भेजनी चाहिये। अपने पास कोई चीज है और अपनी सखी अपनेसे गरीब है तो कपड़ा और खानेकी चीजें किसी भी बहानेसे उसके घर पहुँचाते रहना चाहिये। वह अस्वीकार करे तो स्वयं जाकर आग्रह करके दे आना चाहिये और बदलेमें, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसकी कम कीमतकी वस्तु ले लेनी चाहिये। जैसे वहाँ अंगोछे पड़े देखे तो कहा कि 'ये अंगोछे तो बहुत बढ़िया हैं। मैं इनमेंसे दो ले लेती हूँ।' उसने कहा—'अवश्य ले जाओ।' दोनों अंगोछोंकी कीमत हुई एक रुपया और उनके बदलेमें उसे दस रुपयेकी साड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेज दीं। इसपर यदि उसने कहा—बिना मूल्य यह मैं कैसे रखूँ? तो कहना चाहिये— 'मैं तो तुम्हारे अंगोछे उठाकर ले आयी थी। तुम्हारी-हमारी कोई दो बात थोड़े ही है। तुम्हारी चीज हमारी है और हमारी तुम्हारी है।' उसके घरपर भूँजे चने देखे तो कहा—'बहुत बढ़िया है, लाओ, थोड़ा मुझे भी दो।' भूँजे चने हैं दो पैसेके। माँगकर खा लिये; क्योंकि इसको निमित्त बनाकर अपनेको दस

रुपयेकी चीज उसके यहाँ पहुँचानी है। इसी प्रकार जब भी उसके घरपर जाय और घी-चीनी, अनाज-वस्त्र आदि किसी भी चीजकी कमी देखे तो झट पहुँचा दे। इसपर वह कहे कि बिना मूल्य मैं कैसे लूँ तो कह दे कि अपने आपसमें संकोच नहीं करना चाहिये। जब हम परस्पर सखी हैं, तब तुम्हारी चीज है सो हमारी और हमारी है सो तुम्हारी। वस्तुतः ऐसा ही आन्तरिक भाव रखना चाहिये। वह गरीब है, इसलिये उपकार या दयाकी भावनासे नहीं, बल्कि वह सखी है, मित्र है, उसका दुःख मेरा ही दुःख है—उसका मुझपर और मेरी वस्तुओंपर अधिकार है, इस भावनासे उसे वस्तुएँ देनी चाहिये।

लेनेका काम पड़े तो खूब कम लेना चाहिये और वह भी उसके संतोषके लिये, जिससे कि जब अपने कोई चीज उसे दे तो वह मने न कर सके। इसी दृष्टिसे उसकी चीज लेनी चाहिये, स्वार्थबुद्धिसे नहीं। स्वार्थबुद्धिसे तो सभी लोग लेते हैं। उसके लिये शिक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। सीखनी तो है स्वार्थत्यागकी बात। इसीसे मुक्ति होती है। स्वार्थसाधनसे मुक्ति होती तो सबकी हो जाती। त्यागका महत्त्व भगवान्‌के ध्यानसे भी बढ़कर गीतामें बतलाया गया है। १२ वें अध्यायके १२ वें श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है—

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग यानी निष्कामकर्म अर्थात् स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे तत्काल शान्ति मिलती है।' यहाँ त्यागका अभिप्राय है— स्वार्थका त्याग। हमलोग कोई भी कार्य करें, उसमें जो निजी स्वार्थका त्याग है, वह सबसे उत्तम है।

यह शरीर नाशवान् है। इसे पुष्ट करनेमें या सजानेमें पैसे खर्च करना मूर्खता है। उन पैसोंसे दुःखी, गरीब, अनाथोंकी सेवा करनी

चाहिये। हमारे पास जो धन है, उससे आसक्ति हटाकर उसका सदा सदुपयोग करना चाहिये; क्योंकि जब हम मर जायँगे, तब वह धन यहीं रह जायगा—न मालूम उसकी क्या दशा होगी? थोड़े ही समयके लिये हमको यह अवसर मिला है, ऐसा अवसर बहुत कालतक रहनेका नहीं है। इसलिये शीघ्र ही अपना काम बना लेना चाहिये। अन्तमें न तो यह शरीर रहेगा और न यह ऐश्वर्य तथा धन ही। आज जो हमारे अधिकारमें है, वह सब जल्दी ही हमसे छूटनेवाला है। जैसे समय बीत रहा है, इसी प्रकार ये सब चीजें समयके साथ-साथ चली जा रही हैं। लाख जतन करनेपर भी नहीं रहेंगी। जब अपना शरीर ही रहनेका नहीं है, तब दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या है। अतएव इन सब पदार्थोंको जगज्जनार्दनकी सेवामें लगाना चाहिये।

हरेक माता-बहिनको यह स्मरण रखना चाहिये कि यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा, इसकी खाक हो जायगी। अतः खाक होनेके पहले-पहले ही इस शरीरका सदुपयोग जगज्जनार्दनकी सेवामें कर लें, जिससे मानव-जन्म सफल हो जाय। जैसी ईश्वरकी सेवा करनेमें प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता सबकी सेवामें होनी चाहिये; क्योंकि सभी परमात्माके स्वरूप हैं या सभीमें परमात्मा विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इस निष्काम सेवा या स्वार्थत्यागपूर्वक की जानेवाली सेवाको ही निष्कामकर्म कहते हैं। इस निष्काम कर्मसे आत्मा बहुत ही शीघ्र पवित्र होता है और भगवान्‌में सच्चा प्रेम बढ़ता है। इसलिये हमारी सारी क्रियाएँ भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाली होनी चाहिये।

माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे अपने बालक-बालिकाओंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करें, जिसमें उनका हित हो। उनका हित

है विद्या-लाभमें और उत्तम आचरणोंमें; अतः उनको श्रेष्ठ विद्या और उत्तम आचरणोंकी शिक्षा देनी चाहिये। माता-पिता सदाचारी होते हैं तो बालक भी सदाचारी होते हैं। बालकोंके सामने बड़ी सावधानीसे क्रियाके रूपमें सदाचार रखना चाहिये, तभी उनपर असर पड़ता है। आप झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार करेंगे और उनसे कहेंगे कि सत्य बोलो, अहिंसाका पालन करो, चोरी मत करो, ब्रह्मचर्य रखो तो इस कथनमात्रका कुछ भी असर नहीं होगा। इसलिये उनके सामने उत्तम आदर्श रखकर उनको उसी प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये।

विधवा माताओंको चाहिये कि वे अपने जीवनको सर्वथा पवित्र, वैराग्यमय और त्यागयुक्त बनायें। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, हास-विलासका सर्वथा त्याग कर दें। जीवनको तपस्यामय बना लें। मन-इन्द्रियोंका संयम रखें। जो स्त्रियाँ ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिमें रत हैं, उनका दर्शन भी न करें। उनके पास न बैठें। समझना चाहिये कि वे विषयभोगरूपी कीचड़में फँसी हुई हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रही हैं। उनका सङ्ग करके अपने जीवनको नष्ट नहीं करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेमें अपना समय बिताना और निष्कामभावसे लोगोंकी शास्त्रोक्त सेवा करनी चाहिये। शरीरसे हर समय उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये।

सुहागिन माताओंका यह कर्तव्य है कि वे उन विधवा माताओंकी निःस्वार्थभावसे सेवा करें, उनको सच्चे हृदयसे सुख पहुँचावें। विधवा माँ-बहिनको जो दुःख देता है, वह स्त्री हो या पुरुष, उसका इस लोकमें पतन होता है, निन्दा होती है और मरनेपर उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है।

विवाह-शादी आदि राजसी कामोंमें विधवा माताओंको स्वयं ही नहीं

जाना चाहिये। राजसी उत्सव-समारोहोंसे, नृत्य-गान-वाद्यादिसे दूर ही रहना चाहिये। धार्मिक विषय हो, भक्तिकी बात हो या सत्सङ्ग हो तो उसमें जानेमें कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि लाभ ही है; किंतु यदि कहीं बाहर जाना हो तो चाहे वह धार्मिक काम ही क्यों न हो, अपने ससुराल या पीहरवालोंके साथ जाना चाहिये, अकेली नहीं। जो स्त्री अकेली घरसे बाहर निकलकर इधर-उधर भटकती है, उसका पतन होनेका भय है। इसलिये स्त्रियोंको कभी स्वतन्त्र नहीं घूमना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

'बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवावस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो (साबालिग) पुत्रोंके अधीन रहे (उनके अभावमें ससुरालवालोंके अधीन होकर रहे); तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले।'

स्मरण करना चाहिये कि मालिक जो पाप करता है, वह उसके अधीन रहनेवालेको नहीं लगता। जैसे कोई पति पाप करता है तो उसका फल पत्नीको नहीं भोगना पड़ता; क्योंकि वह तो पतिके अधीन है। किंतु स्त्री जो पाप करती है, उसका आधा भाग उसके पतिको भोगना पड़ता है; क्योंकि पति शासक है। पुरुष जो पुण्य करता है, उसका आधा स्त्रीको मिलता है; किंतु जो स्त्री पतिके अधीन नहीं रहती, उसको नहीं। जो स्त्री पतिकी सेवा करती है, पतिका साथ देती है, उसी पतिव्रताको आधा पुण्य मिलता है।

अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको [illegible] धर्मके पालनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।



मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य होनेपर भी भोगोंकी आसक्ति और कामनावश मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे वञ्चित रहता है। पशुकी भाँति आहार-निद्रा, भय-मैथुनादिमें ही अपना अमूल्य जीवन खो देता है। यदि कोई मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसका फल वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा ही चाहता है। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला साधन तो प्रायः कम ही बनता है। यद्यपि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होना केवल विषय-सेवनमें ही लगे रहनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; परंतु मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी वृत्ति जब मनुष्यके अंदर उत्पन्न हो जाती है और फूलती-फलती है, तब उसमें दम्भ-पाखण्ड एवं दिखाऊपन आ जाता है। फिर यथार्थमें उत्तम कर्म बनना बंद हो जाता है। केवल बाहरसे उत्तम कर्मका दिखावामात्र रह जाता है। इसलिये मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके लिये ही निष्कामभावसे उत्तम आचरण करना चाहिये। जिसमें लौकिक कामना न हो और जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुप्त भावसे किया जाय, वही उच्चकोटिका साधन समझा जाता है। जैसे श्रीभगवान्‌के नामका जप, वाणीकी अपेक्षा श्वाससे किया जाय तो श्रेष्ठ होता है। मनसे किया जानेवाला उसकी

अपेक्षा श्रेष्ठ है और भगवान्‌के ध्यानसहित, निरन्तर, श्रद्धापूर्वक, गुप्त तथा निष्काम प्रेम-भावसे किया जाय तो वह सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार किया जानेवाला भगवान्‌के नामका जप बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

इसीके साथ-साथ प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि रखते हुए सबकी सेवा की जाय, तो वह भगवत्सेवा ही होती है। मनुष्यके पास विद्या-बुद्धि, धन-दौलत, मकान-जमीन, बल-आयु आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌की वस्तु है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही प्राप्त है। जो मनुष्य निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की सब वस्तुओंको भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की सेवामें लगाता रहता है, वह निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही करता रहता है, पर ऐसा न करके जो लोग उन वस्तुओंमें अपना ममत्व मानकर उनके द्वारा इस नश्वर शरीरको सुख पहुँचाना चाहते हैं और भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये मोहवश झूठ-कपट, दम्भ-छल, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, वे तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग करते हैं और उन्हें इसका बहुत ही बुरा फल भोगनेको बाध्य होना पड़ेगा। पाप-कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा तो सकाम भावसे भगवान्‌का भजन करनेवाले और देवाराधन करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, परंतु उससे आत्मकल्याण नहीं होता; अतएव साधकको निष्कामभावसे ही भगवान्‌के शरणापन्न होना चाहिये। समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुराचारोंका त्याग करके, इन्द्रिय और मनका संयम करते हुए तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करते हुए भगवान्‌की सेवाके भावसे ही निष्कामभावपूर्वक समस्त कार्य करने चाहिये। सेवाको परम सौभाग्य मानना चाहिये। मनुष्यका शरीर भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही मिला है।

प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूपसे जो लोग साधन करते हैं—नित्यकर्म, पूजा-पाठ, संध्या-वन्दन, जप-ध्यान आदि करते हैं, सो बहुत ही उत्तम है; परंतु उसमें भी सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। अश्रद्धापूर्वक केवल बेगार समझकर ही या लोगोंको दिखानेके लिये जो साधन या आराधन आदि किया जाता है, वह उत्तम फल देनेवाला नहीं होता। श्रद्धा, विश्वास, धैर्य और आदर-बुद्धिसे जो साधन होता है, वही उत्तम फलदायक हुआ करता है। उसमें निष्कामभाव हो, विषयोंके प्रति वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य अनुराग हो, तब तो वह भगवत्प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन बन जाता है। अतएव प्रातःकाल और संध्याके समय जो साधन होता है, उसमें उपर्युक्त प्रकारसे सुधारके साथ-साथ प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि दिनभरके सारे काम प्रेमसहित निष्कामभावसे भगवत्पूजाके ही रूपमें होने लगें।

रात्रिके समय शयनकालमें सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर भगवान्‌के नाम-रूपका और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका स्मरण करते हुए शयन करना चाहिये। इस प्रकार जो शयन किया जाता है, वह सोनेका समय भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है।

मनुष्यकी बुद्धिमानी इसीमें है कि वह अपने जीवनका एक-एक क्षण अपने कल्याणके लिये ही लगावे। यह काम उसे स्वयं ही करना है और जबतक मनुष्य-शरीर है, तभीतक इसे किया जा सकता है। मरनेके बाद दूसरा कोई इस कामको कर दे, यह सर्वथा असम्भव है। संसारके काम तो मनुष्यके मरनेके बाद भी दूसरोंके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। जैसे धन, मकान, जमीन, गहने, कपड़े और रुपये आदि तमाम चीजें उत्तराधिकारी अपने-आप सँभाल लेते हैं, इसके लिये कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। चिन्ता तो करनी है आत्मकल्याणके लिये,

****

जिसका मरनेके बाद उत्तराधिकारीके द्वारा सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इस कामको तो जीते-जी ही कर लेना चाहिये। यही मानव-जीवनका सर्वोत्तम उद्देश्य है। मनुष्यको यह खयाल करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है और मैं क्या कर रहा हूँ? उसे यह समझना चाहिये कि मैं ईश्वरका अंश हूँ और यह संसार प्रकृतिका कार्य है। मेरा यहाँ आना ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये है, न कि संसारके भोग भोगनेके लिये। जो मनुष्य दुर्लभ मानव-देह पाकर संसारके भोगोंमें ही अपने जीवनको बिता देता है, वह मूर्ख अमृत त्यागकर विष-पान करता है।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥



संत-महापुरुषोंके सिद्धान्त

परमात्माकी प्राप्तिके विभिन्न मार्ग

अद्वैत-सिद्धान्त

अद्वैतवादी संतोंका यह सिद्धान्त है कि प्रथम शास्त्रविहित कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग करके कर्मयोगका साधन करना चाहिये; उससे दुर्गुण, दुराचाररूप मलदोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; तदनन्तर भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करना चाहिये, उससे विक्षेपका नाश होता है। इसके बाद आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आवरणका नाश होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। वेदान्त-सिद्धान्तके इन आचार्योंका यह क्रम बतलाना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है। इसके सिवा, केवल ज्ञानसे, केवल भक्तिसे और केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। अतः इस मार्गके अधिकारी साधकोंके लिये यह आचरण करनेयोग्य है।

निष्काम कर्मयोग

इसी प्रकार केवल निष्काम कर्मयोगके साधनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(३।१९, २० का पूर्वार्ध)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(५।५ का पूर्वार्ध)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५।६ का उत्तरार्ध)

'कर्मयोगी मुनि परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिमिश्रित कर्मयोग

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और यह सर्वथा उपयुक्त ही है। जब केवल निष्काम कर्मयोगसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इस विषयमें भी स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

(१८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

भगवद्भक्ति

इसके अतिरिक्त, केवल भगवद्भक्तिसे ही अनायास स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्योंका कल्याण हो जाता है। गीतामें इसको सर्वोत्तम बतलाया है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

****

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७।१४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसागरसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८।६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इसी प्रकार गीतामें और भी बहुत-से श्लोक हैं; किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये नहीं दिये गये।

भक्तिमार्गके संतोंका ऐसा कथन है कि प्रथम कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, फिर आत्मज्ञानसे जीवको आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, तदनन्तर परमात्माकी भक्तिसे परमात्माका ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गके इन आचार्योंकी पद्धतिके अनुसार इनका भी यह क्रम बतलाना बहुत ही उचित है। इस मार्गके अधिकारी साधकोंको इसीके अनुसार आचरण करना चाहिये।

आत्मज्ञान

इसी प्रकार केवल आत्मज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जब निष्काम कर्मके द्वारा ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब आत्मज्ञानसे परमात्माकी

****

प्राप्ति होनेमें तो कहना ही क्या है। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४।३४-३५)

'उस तत्त्वज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण

करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्तचेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३।३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

****

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। वह भगवान्‌की भक्ति करे तो उत्तम है; परंतु वह इसके लिये बाध्य नहीं है।

दुर्गुण-दुराचारोंके रहते मुक्ति नहीं होती

यहाँ एक और भी सिद्धान्तकी बातपर विचार किया जाता है। कुछ सज्जन ऐसा मानते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंके रहते हुए भी ज्ञानके द्वारा मुक्ति हो जाती है; परन्तु यह बात न तो शास्त्र-सम्मत है और न युक्तिसंगत ही। लोगोंको इस भ्रममें कदापि नहीं पड़ना चाहिये। यह सर्वथा सिद्धान्त-विरुद्ध बात है। ऐसे दोषयुक्त लोगोंको तो स्वयं भगवान्‌ने गीतामें आसुरी सम्पदावाला बतलाया है (गीता अध्याय १६ श्लोक ४ से १९ तक देखिये) और इनके लिये आसुरी योनियोंकी प्राप्ति, दुर्गति और घोर नरककी प्राप्तिका निर्देश किया है। भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २०-२१)

'हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त

होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ— ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

जो इन दुर्गुणों और विकारोंसे रहित हैं, वे ही भगवान्‌के सच्चे साधक हैं और वे ही उस परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(१२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

संत तुलसीदासजी भी कहते हैं—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन महँ खान।
तुलसी पंडित मूरखा दोनों एक समान॥

इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि दुर्गुण और दुराचारके रहते हुए कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। यही अटल सिद्धान्त है।

ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म सत्य हैं

कुछ लोग यह कहते हैं कि 'न तो ईश्वर है और न परलोक है तथा न भावी जन्म ही है। पाँच जड भूतोंके इकट्ठे होनेपर उसमें एक चेतनशक्ति आ जाती है और उसमें विकार होनेपर वह फिर नष्ट हो जाती है।' यह कहना भी बिलकुल असंगत है। हम देखते हैं कि देहमें पाँच भूतोंके विद्यमान रहते हुए भी चेतन जीवात्मा चला जाता है और वह पुनः लौटकर वापस नहीं आ सकता। यदि पाँच भूतोंके मिश्रणसे ही चेतन आत्मा प्रकट होता हो तो ऐसा आजतक किसीने न तो करके दिखाया ही और न कोई दिखला ही सकता है। अतः यह कथन भी सर्वथा अयुक्त और त्याज्य है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। गीतामें भी देहान्तरकी प्राप्ति होनेकी बात स्वयं भगवान्‌ने कही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर परुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽ
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे

होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ— ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

जो इन दुर्गुणों और विकारोंसे रहित हैं, वे ही भगवान्‌के सच्चे साधक हैं और वे ही उस परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६।२२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(१२।१५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

संत तुलसीदासजी भी कहते हैं—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन महँ खान।
तुलसी पंडित मूरखा दोनों एक समान॥

इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि दुर्गुण और दुराचारके रहते हुए कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। यही अटल सिद्धान्त है।

ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म सत्य हैं

कुछ लोग यह कहते हैं कि 'न तो ईश्वर है और न परलोक है था न भावी जन्म ही है। पाँच जड भूतोंके इकट्ठे होनेपर उसमें एक तनशक्ति आ जाती है और उसमें विकार होनेपर वह फिर नष्ट हो ाती है।' यह कहना भी बिलकुल असंगत है। हम देखते हैं कि देहमें ाँच भूतोंके विद्यमान रहते हुए भी चेतन जीवात्मा चला जाता है और ह पुनः लौटकर वापस नहीं आ सकता। यदि पाँच भूतोंके मिश्रणसे ी चेतन आत्मा प्रकट होता हो तो ऐसा आजतक किसीने न तो करके दिखाया ही और न कोई दिखला ही सकता है। अतः यह कथन भी र्वथा अयुक्त और त्याज्य है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। गीतामें भी देहान्तरकी प्राप्ति होनेकी बात स्वयं गवान्ने कही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण

करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतएव उन लोगोंका उपर्युक्त कथन शास्त्रसे भी असंगत है; क्योंकि मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है तथा परलोक और पुनर्जन्म भी है।

इसी प्रकार उनका यह कथन भी भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर नहीं है; क्योंकि— आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पदार्थोंकी रचना और उनका संचालन एवं जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको यथास्थान स्थापित करना ईश्वरके बिना कदापि सम्भव नहीं है। संसारमें जो भौतिक विज्ञान(Science) के द्वारा यन्त्रादिकी रचना देखी जाती है, उन सभीका किसी बुद्धिमान् चेतनके द्वारा ही निर्माण होता है। फिर यह जो इतना विशाल संसार चक्ररूप यन्त्रालय है, उसकी रचना चेतनकी सत्ताके बिना जड प्रकृति(Nature) कभी नहीं कर सकती।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि इसका जो उत्पादक और संचालक है, वही ईश्वर है।

गीतामें भी लिखा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

'हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

शुक्लयजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम मन्त्रमें बतलाया है—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके सहित अर्थात् उसको याद रखते हुए त्यागपूर्वक (उसीके समर्पण करके) इसे भोगते रहो, इसकी इच्छा मत करो; क्योंकि धन-ऐश्वर्य किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है।'

पूर्व और भावी जन्म न मानकर बिना ही कारण जीवोंकी उत्पत्ति माननेसे ईश्वरमें निर्दयता और विषमताका दोष भी आता है; क्योंकि संसारमें किसी जीवको मनुष्यकी और किसीको पशु आदिकी योनि प्राप्त होती है। कोई जीव सुखी और कोई दुःखी देखा जाता है। अतः जीवोंके जन्मका कोई सबल और निश्चित हेतु होना चाहिये। वह हेतु है पूर्वजन्मके गुण और कर्म। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४।१३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भावी जन्म है।

मुक्त पुरुष लौटकर नहीं आते

कितने ही लोग यह मानते हैं कि 'जीव मुक्त तो होते हैं; किंतु महाप्रलयके बाद पुनः लौटकर वापस आ जाते हैं।' पर उनकी यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतियोंकी यह स्पष्ट घोषणा है—

न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते ।

(छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

'(मुक्त हो जानेपर पुरुष) फिर वापस लौटकर नहीं आता, वह पुनः वापस लौटकर आता ही नहीं।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(८ । १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं।'

यदि यह मान लिया जाय कि मुक्त होनेपर भी प्राणी वापस आता है तो फिर स्वर्गप्राप्ति और मुक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि लोकान्तरोंमें गया हुआ जीव ही लौटकर आता है, जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है या यों कहो मुक्त हो जाता है, वह नहीं आता। युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर जीवकी चिज्जडग्रन्थि खुल जाती है, उसके सारे कर्म और संशयोंका सर्वथा नाश हो जाता है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, ऐसी स्थितिमें गुण, कर्म और अज्ञानके सम्बन्ध विना जीव वापस नहीं आ सकता। मुक्त तो यथार्थमें वही है, जिसके पूर्वके गुण और कर्म तथा संशय और भ्रमका सर्वथा विनाश हो चुका है।

ऐसा होनेपर पूर्वके गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रहे बिना उसका किसी योनिमें जन्म लेना और सुख-दुःखका उपभोग करना—सर्वथा

असंगत और असम्भव है।

यदि कहें कि 'इस प्रकार जीव मुक्त होते रहेंगे तो शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँगे।' तो यह ठीक है। यदि शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या हानि है ? अच्छे पुरुष तो सबके कल्याणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते ही रहते हैं।

सभी देश, सभी काल, सभी आश्रमोंमें मनुष्य-मात्रकी मुक्ति हो सकती है

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि 'इस देशमें, इस कालमें और गृहस्थ-आश्रममें मुक्ति नहीं होती।' यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मान लेनेपर तो परमात्माकी प्राप्ति असम्भव-सी हो जाती है, फिर मुक्तिके लिये कोई प्रयत्न ही क्यों करेगा ? इससे तो फिर प्रायः सभी मुक्तिसे वञ्चित रह सकते हैं। अतः इनका कहना भी शास्त्रसम्मत और युक्तिसंगत नहीं है। सत्य तो यह है कि मुक्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञान होता है साधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर, एवं साधन सभी देशोंमें, सभी कालोंमें, सभी वर्णाश्रमोंमें हो सकते हैं।

भारतवर्ष तो आत्मोद्धारके लिये अन्य देशोंकी अपेक्षा विशेष उत्तम माना गया है। श्रीमनुजी कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

अतः यह कहना कि इस देशमें मुक्ति नहीं होती, अनुचित है। इसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती।

क्योंकि मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान्‌ने बतलाया है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि— चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें एक कथा आती है। एक बार बहुत-से मुनिगण महामुनि श्रीवेदव्यासजीके पास कुछ प्रश्नोंका उत्तर जाननेके लिये आये। उस समय श्रीवेदव्यासजी गङ्गामें स्नान कर रहे थे। उन्होंने मुनियोंके मनके अभिप्रायको जान लिया और गङ्गामें डुबकी लगाते हुए ही वे कहने लगे— 'कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ हैं, स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।' फिर उन्होंने गङ्गाके बाहर निकलकर मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ कैसे पधारे हैं ?' मुनियोंने कहा—

कलिः साध्विति यत्प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः ।
यदाह भगवान् साधु धन्याश्चेति पुनः पुनः ॥

(६ । २ । १२)

'भगवन् ! आपने जो स्नान करते समय पुनः-पुनः यह कहा था कि कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ हैं, स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य हैं, सो इसका क्या कारण है ?

इसपर श्रीवेदव्यासजी बोले—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥

तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

(६।२।१५—१७)

'हे ब्राह्मणो! तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदिका जो फल सत्ययुगमें दस वर्षतक अनुष्ठान करनेपर मनुष्य प्राप्त करता है, वही फल मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो परमात्माकी प्राप्ति सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें पूजा करनेसे होती है, वही कलियुगमें श्रीभगवान्‌के नाम-कीर्तन करनेसे हो जाती है।'

यहाँ अन्य सब कालोंकी अपेक्षा कलियुगकी विशेषता बतलायी गयी है। इसलिये इस कालमें मुक्ति नहीं होती, यह बात शास्त्रसे असंगत है।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अब शूद्र क्यों श्रेष्ठ हैं, यह बतलाते हैं—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः ।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद् धनैः ॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः ॥

(६।२।१९, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्य करना चाहिये और फिर स्वधर्मके अनुसार उपार्जित धनके : विधिपूर्वक यज्ञ करना कर्तव्य है; (इस प्रकार करनेपर वे अट क्लेशसे अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं।) किंतु जिसे के (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र तो द्विजाति ब्रा क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करनेसे अनायास ही अपने पुण्यलोकोंको कर लेता है; इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है

अब स्त्रियोंको किसलिये श्रेष्ठ कहा, सो बतलाते हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(६।२।

'हे ब्राह्मणो! अपने पतिके हितमें रत रहनेवाली स्त्रि तन-मन-वचनके द्वारा पतिकी सेवा करनेसे ही पतिके सम लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो कि पुरुषोंको परिश्रमसे मिलते हैं। इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था ि श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार वैश्यके लिये भी अपने धर्मके पालनसे मुक्ति होना शास्त्रोंमें बतलाया गया है। पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके अध्यायमें तुलाधार वैश्यके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कभी मन, वाणी या क्रियाद्वारा किसीका कुछ बिगाड़ नहीं ि कभी असत्य नहीं बोला और उसने किसीसे द्वेष नहीं किया लोगोंके हितमें तत्पर रहता है, सब प्राणियोंमें समान भाव रख

मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है। लोग जौ, नमक, तेल, घी, अनाजकी ढेरियाँ तथा अन्यान्य संगृहीत वस्तुएँ उसकी जबानपर ही लेते-देते हैं। वह प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी सत्य छोड़कर कभी झूठ नहीं बोलता। अतः वह 'धर्म-तुलाधार' कहलाता है। उसने सत्य और समतासे तीनों लोकोंको जीत लिया है, इसीलिये उसपर मुनिगणोंके सहित पितर तथा देवता संतुष्ट रहते हैं। धर्मात्मा तुलाधार उपर्युक्त गुणोंके कारण ही भूत और भविष्यकी सब बातें जानता है*। बुद्धिमान् तुलाधार धर्मात्मा है तथा सत्यमें प्रतिष्ठित है। इसीलिये देशान्तरमें होनेवाली बातें भी उसे ज्ञात हो जाती हैं। तुलाधारके समान प्रतिष्ठित व्यक्ति देवलोकमें भी नहीं है।'

वह तुलाधार वैश्य उपर्युक्त प्रकारसे अपने धर्मका पालन करता हुआ अन्तमें अपनी पत्नी और परिकरोंसहित विमानमें बैठकर विष्णुधामको चला गया।

इसी प्रकार 'मूक' चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवा करके उसके प्रभावसे भगवान्‌के परम धाममें चला गया। वह माता-पिताकी सेवा किस प्रकारसे किया करता था, इसका पद्मपुराण-सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें बड़ा सुन्दर वर्णन है। वहाँ बतलाया है कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा रहता था। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माँ-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके पश्चात् पान खिलाता

---

* सत्येन समभावेन जितं तेन जगत्त्रयम्।
तेनातृप्यन्त पितरो देवा मुनिगणैः सह॥
भूतभव्यप्रवृत्तं च तेन जानाति धार्मिकः।
(४७। ९:

****

और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसन्त ऋतुमें महुएके पुष्पोंकी सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। गरमीके मौसिममें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी परिचर्या करके ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था।

इन पुण्यकर्मोंके कारण उस चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खंभेके ही आकाशमें स्थित था। उसके अंदर त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजमान रहते थे। वे सत्यस्वरूप परमात्मा अपने महान् सत्त्वमय तेजस्वी विग्रहसे उस चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते थे।

उसी प्रसङ्गमें एक शुभा नामकी पतिव्रता स्त्रीका आख्यान भी आया है। जब तपस्वी नरोत्तम ब्राह्मण मूक चाण्डालके कथनानुसार पतिव्रताके घर गया और उसके विषयमें पूछने लगा तो अतिथिकी आवाज सुनकर वह पतिव्रता घरके दरवाजेपर आकर खड़ी हो गयी। उस समय ब्राह्मणने कहा—'देवि ! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार स्वयं ही सोचकर मेरे लिये प्रिय और हितकी बात बतलाओ।' शुभा बोली—'ब्रह्मन् ! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है; इसलिये आपका कार्य पीछे करूँगी, इस समय तो आप मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।' नरोत्तमने कहा—'मेरे शरीरमें इस समय भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बतलाओ, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा।' तब उस पतिव्रताने भी कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं बगुला नहीं हूँ, आप धर्म-तुलाधारके पास

****

जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये।' यों कहकर वह पतिव्रता अपने घरके भीतर चली गयी। अपने धर्मपालनमें कितनी दृढ़ निष्ठा है! इस पातिव्रत्यके प्रभावसे ही वह देशान्तरमें घटनेवाली घटनाओंको भी जान लेती थी और उसके घरमें भी भगवान् ब्राह्मणका रूप धारण करके रहते थे; इस प्रकार पतिसेवा करती हुई अन्तमें वह अपने पतिके सहित भगवान्के परम धाममें चली गयी। ऐसे ही द्रौपदी, अनसूया, सुकला आदि और भी बहुत-सी पतिव्रताएँ ईश्वरकी भक्ति और पातिव्रत्यके प्रभावसे परम पदको प्राप्त हो चुकी हैं।

इसी प्रकार सत्-शूद्रोंमें संजय, लोमहर्षण, उग्रश्रवा आदि सूत भी परम गतिको प्राप्त हुए हैं तथा निम्न जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी) आदि मुक्त हो गये हैं।

जब स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी तथा पापयोनि—चाण्डालादि गृहस्थियोंकी मुक्ति हो जाती है, तब फिर उत्तम वर्ण और उत्तम आश्रमवालोंकी मुक्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है?

शास्त्रोंके इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सभी देश, सभी काल और सभी जातिमें मनुष्यका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह चाहे किसी भी देशमें हो, किसी भी कालमें हो और किसी भी जाति, वर्ण और आश्रममें हो, उसीमें शास्त्रविधिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता हुआ ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग—किसी भी अपनी रुचि और अधिकारके अनुकूल साधनके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका श्रद्धापूर्वक तत्परतासे पूरा प्रयत्न करे।

निराश नहीं होना चाहिये

पहले हमारे मनमें कई विचार हुए थे; किंतु अभीतक विचारके अनुसार कोई काम नहीं हुआ। एक तो ऐसा विचार हुआ था कि संसारमें तीन श्रेणीके मनुष्य तैयार हों—भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी। ज्ञानके द्वारा जिन्होंने आत्माका उद्धार कर लिया, वे ज्ञानयोगी; भक्तिके द्वारा जो भगवान्‌को प्राप्त करके मुक्त हो गये, वे भक्तियोगी; और निष्कामभावसे कर्म करके जो मुक्त हो गये, वे कर्मयोगी हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आने लगे कि 'इस समूहमें सभी ज्ञानयोगी हैं; इस समूहमें सभी भक्तियोगी हैं और इस समूहमें सभी कर्मयोगी हैं।' ऐसा मनका विचार था, परंतु समूहकी तो बात दूर रही, अपने लोगोंमें दो-चार भी ऐसे पुरुष तैयार नहीं हुए। यह खेदकी बात अवश्य है, परंतु अभीतक ऐसे पुरुषोंका निर्माण न होनेपर भी मनमें कभी निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यको सदा आशावादी ही रहना चाहिये।

अब हमलोगोंमें बहुत-से भाई मृत्युके समीप पहुँच रहे हैं और यह उपर्युक्त बात अभीतक विचारमें ही रही, कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकी। मुझे तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी कमी है। मुझमें कोई ऐसा प्रभाव नहीं कि जिससे दूसरे पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो सके यानी मुझमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं कि मैं दूसरोंको मुक्त कर सकूँ। एवं जितने सुननेवाले भाई हैं, उन लोगोंको यही समझना चाहिये कि हम जो शास्त्रकी बातें सुनते हैं, उनको काममें नहीं लाते; इसीलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित हैं।

श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणोंकी अर्थात् उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, भागवत आदिकी जो बातें हैं, वे अवश्य कल्याण

करनेवाली हैं। मैं तो केवल उनका अनुवादमात्र कर देता हूँ। यह बात नहीं कि आपलोगोंके लिये तो इनका पालन करना कर्तव्य है और मेरे लिये नहीं। ऐसा मैं नहीं कहता। गीता तो साक्षात् ईश्वरके वचन हैं और अन्य सब शास्त्र ऋषि-मुनियोंके। उन शास्त्रोंके वचनोंको कोई भी काममें लायें तो उनका कल्याण हो सकता है। आपलोग काममें लायें तो आपलोगोंका कल्याण हो सकता है और यदि मैं काममें लाऊँ तो मेरा। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता हूँ, उन सभी बातोंको मैं स्वयं आचरणमें लाकर ही कहता हूँ; किंतु उनको आचरणमें लाना उत्तम समझता हूँ, अतः आचरणमें लानेके लिये हमलोगोंको प्रयत्न करना चाहिये। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और मुझको निराश होना भी नहीं चाहिये। आपलोगोंको भी निराश नहीं होना चाहिये कि इतने दिनोंतक हमलोग आचरणमें नहीं ला सके तो भविष्यमें शायद ही ला सकें। मनमें थोड़ी भी निराशा हो जाती है तो कार्य सफल नहीं होता। अतः सबको बड़े ही धैर्य, उत्साह और तेजीके साथ भगवान्‌की तथा ऋषियोंकी आज्ञाका कर्तव्य समझकर पालन करते ही रहना चाहिये। एवं दूसरोंसे पालन करानेकी भी प्रेमपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि गीतामें अठारहवें अध्यायके ६८ वें ,६९ वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भावोंका जो संसारमें प्रचार करता है अर्थात् जो गीता-शास्त्रका प्रचार करता है, वह मेरी परम भक्ति करके मुझको प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा प्यारा काम करनेवाला दुनियामें न कोई हुआ,न कोई है और न कोई भविष्यमें होगा।' इन बातोंपर ध्यान देकर हम भगवान्‌के भावोंका प्रचार करें तो उससे अपना कल्याण तो निश्चित है ही, दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये मुझको तो यही आशा रखनी चाहिये कि आपलोगोंकी जो स्थिति

और साधन है, वह उत्तरोत्तर विशेष प्रबल हो सकता है और आपलोगोंको भी मनमें खूब उत्साह लाकर अपनी स्थिति और साधन जिस तरहसे तेज हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की तो कृपा है ही, उनकी तो हर समय ही सहायता रहती है। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार जो कोई चलता है और चलना चाहता है, भगवान् उसकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं।

हम देख रहे हैं कि जो मनुष्य सरकारकी आज्ञाका पालन करना चाहता है, सरकार उसकी हर प्रकारसे सहायता करती है; फिर भगवान् सहायता करें, इसमें तो कहना ही क्या है। केवल हमारा ध्येय—लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम भगवान्‌की और महापुरुषोंकी आज्ञाका परम कर्तव्य समझकर पालन करें। शास्त्रोंमें यह बात देखी गयी है कि जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, महात्माओंकी और ईश्वरकी कृपासे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है।

कर्तव्य-पालनसे मुक्ति

जबालाके पुत्र सत्यकामने महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि जो बात गुरुजीने कही है, उसका अक्षरशः पालन करना चाहिये। वह अपना कर्तव्य समझकर उसके पालनके लिये तत्पर हो गया और मन लगाकर उसने वह कार्य किया। गौओंकी सेवा करते-करते ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी। गुरुने चार सौ दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा था कि तू इन गौओंके पीछे जा और इनकी सेवा कर। कितने आश्चर्यकी बात है! देखनेमें तो यह कोई ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन नहीं है। वह तो आया था गुरुकी सेवामें परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और गुरुने कह दिया कि तुम गौओंके पीछे जाओ। पर उसको यह दृढ़ विश्वास था कि

****

गुरुकी आज्ञाका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप अवश्य होगी। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, मेरे कल्याणके लिये ही कहते हैं। उसको यह पूरा निश्चय था। नहीं तो, वह इस प्रकार कैसे करता। उसका परिणाम भी परम कल्याणकारी हुआ। उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और आगे चलकर वह भी एक उच्च कोटिका आचार्य बन गया। उसके पास भी विद्यार्थी लोग शिक्षा लेनेके लिये आने लगे। उसको यह विश्वास था कि जैसे मुझको अपने-आप ही गुरुकी कृपासे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, इसी प्रकार मेरे समीप रहनेवालोंको भी हो जानी चाहिये।

उपकोसल नामका उसका एक शिष्य था। उसको गुरुकी तथा अग्नियोंकी सेवा करते-करते बारह वर्ष बीत गये; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंको तो समावर्तनसंस्कार करके विदा कर दिया, केवल उसीको नहीं किया । तब एक दिन सत्यकामसे उनकी धर्मपत्नीने कहा—'स्वामिन्! यह ब्रह्मचारी बड़ी तपस्या कर चुका है। इसने आपकी और अग्नियोंकी भी भलीभाँति सेवा की है। अतः इसे ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये।' परंतु सत्यकाम उसे उपदेश दिये बिना ही बाहर वनकी ओर चले गये; क्योंकि उनको यह पूरा विश्वास था कि यह श्रद्धालु है और कर्तव्यका पालन कर रहा है, इसलिये इसे अपने-आप ही निश्चय ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी।' पत्नीके अनुरोध करनेपर भी वे अपने निश्चयपर डटे रहे और ब्रह्मका उपदेश दिये बिना ही चले गये। इससे उपकोसलने अपने-आपको अयोग्य समझा और दुःखी होकर यह निश्चय किया कि जबतक मुझे गुरुजी ब्रह्मका उपदेश नहीं देंगे, तबतक मैं उपवास रखूँगा। तदनन्तर, गुरुपत्नीने उससे भोजनके लिये आग्रह किया, किंतु उसने मानसिक व्याधि बताकर भोजन ... किया।

अग्निशालामें तीन कुण्डोंमें तीन अग्नियाँ होती हैं—१-गार्हपत्याग्नि, २-दक्षिणाग्नि, ३-आहवनीयाग्नि। जिसमें नित्य हवन किया जाता है, उसका नाम आहवनीय-अग्नि है। पूर्णमासी तथा अमावास्याके दिन जिसमें हवन किया जाता है, वह दक्षिणाग्नि है और जिसमें बलिवैश्वदेव आदि किया जाता है, वह गार्हपत्याग्नि है। गार्हपत्यका मतलब है कि जिससे गृहस्थका काम चले। जब मनुष्यका विवाह होता है, तब विवाहमें हवनकी अग्नि श्वशुरके यहाँसे लायी जाती है। यदि कदाचित् वहाँसे न लायी गयी हो तो गुरु-गृहसे लायी जा सकती है और जीवनपर्यन्त उसमें वह बलिवैश्वदेव आदि करता रहता है तथा मरनेके बाद उसी अग्निमें उसकी दाह-क्रिया—अन्त्येष्टि-क्रिया होती है। विवाहसे लेकर मरणपर्यन्त वह अग्नि अटल रहती है, उसे निरन्तर कायम रखा जाता है।

वे तीनों अग्नियाँ अग्निशालामें हवनकुण्डसे प्रकट हुईं और आपसमें उनकी इस प्रकार बातें होने लगीं कि यह उपकोसल नामका लड़का हमलोगोंकी भी बड़ी भारी सेवा करता है। इसलिये इसको हमलोग ब्रह्मका उपदेश करें। फिर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नियोंने क्रमशः उसे ब्रह्मका उपदेश दिया, जिससे उसे ब्रह्मका ज्ञान हो गया।

उसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके पश्चात् गुरुजी भी वनसे लौटकर आये। गुरुजीने उपकोसलसे कहा—'तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान शान्त जान पड़ता है, तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया है?' उपकोसलने अँगुलियोंसे अग्नियोंकी ओर संकेत करके बतलाया कि 'इन अग्नियोंने मुझको उपदेश दिया है।' सत्यकामने पूछा—'उन्होंने क्या उपदेश दिया?' उपकोसलने, अग्नियोंने ब्रह्मविषयक जो कुछ

उपदेश दिया था, वह ज्यों-का-त्यों सुना दिया और कहा कि 'अब कृपया आप बतलाइये।' इसपर सत्यकामने उसे विस्तारके साथ ब्रह्मका उपदेश दिया।

सत्यकामके हृदयमें कितना दृढ़ विश्वास था कि निश्चय ही उपकोसलको अपने-आप ही ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। यह दृढ़ विश्वास इसीलिये था कि उन्हें स्वयं इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति हुई थी। इससे हमलोगोंको समझना चाहिये कि मनुष्य जब अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, तब एक दिन अवश्य ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसके लिये सत्यकामका वह उदाहरण आदर्श है। सत्यकामके गुरुजी महापुरुष थे; उनकी कृपासे सत्यकामको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेपर उनकी कृपासे उपकोसलको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

जो साधक महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, उसको उनकी कृपासे निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। फिर जो भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के अनन्यशरण होकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण होनेमें तो कहना ही क्या है?

भक्त प्रह्लाद निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करते रहे। उन्होंने कभी दर्शन देनेके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की। उनपर भारी-से-भारी अत्याचार होते रहे; किंतु उन्होंने कभी अपने कर्तव्य-पालनसे मुँह नहीं मोड़ा। इस प्रकार करते-करते एक दिन वह आया, जब कि स्वयं भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और प्रह्लादसे कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः ॥

'प्रिय वत्स! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त दैत्यके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ! अहो! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसङ्ग देखनेमें आया! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझे क्षमा कर।'

यह सुनकर प्रह्लादजी लज्जित हो गये और बोले—'महाराज! आप यह क्या कहते हैं! उसके बाद भगवान् नृसिंह प्रह्लादसे बोले कि 'तेरी इच्छा हो सो वरदान माँग।' इसपर प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मैं जन्मसे ही विषयभोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं। मैं उन भोगोंसे भयभीत होकर— उनसे निर्विण्ण होकर उनसे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं, यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है। ये विषयभोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्ममृत्युके चक्कर[illegible] डालनेवाले हैं। जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और को[illegible] कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेव[illegible] अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-[illegible] करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता[illegible] वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये ही, उसका स्[illegible] बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है[illegible] आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे

और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं। मेरे स्वामी ! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

यह है निष्कामभाव ! निष्कामका स्तर सबसे ऊँचा है। फिर भी हम भगवान्‌से अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भगवान्‌के दर्शनके लिये, भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये, भगवान्‌के भजन-ध्यानके लिये स्तुति-प्रार्थना करें, तो वह कामना शुद्ध होनेके कारण निष्काम ही है।

उच्च निष्कामभावका स्वरूप

अपने परम कल्याणकी, भगवान्‌के दर्शनोंकी, भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेकी और भगवान्‌के भजन-ध्यानकी जो कामना है, वह शुभ और शुद्ध कामना है। इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। फिर भी अपने कर्तव्यका पालन करना और कुछ भी नहीं माँगना—यह और भी उच्च-कोटिका भाव है और देनेपर मुक्तिको भी स्वीकार न करना, यह उससे भी बढ़कर बात है। श्रीभगवान् और महात्माओंके पास तो माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि जैसे कोई सेवक नौकरी करता है और उसकी सेवाको स्वीकार करनेवाले स्वामी यदि उच्चकोटिके होते हैं तो वे स्वयं ही उसका ध्यान रखते हैं। वे ध्यान न भी रखें तो भी उस सेवककी कोई हानि नहीं होती। यदि उसमें सच्चा निष्कामभाव हो तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है; किन्तु ऐसा उच्चकोटिका भाव ईश्वरकी कृपासे ही होता है। इस समय ऐसे स्वामी बहुत ही कम हैं और ऐसे सेवक भी देखनेमें बहुत कम आते हैं; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसारमें ऐसे कोई हैं ही नहीं। अवश्य ही संसारमें

सच्चे महात्मा बहुत ही कम हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही होते हैं। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

हमारा यह कहना नहीं है कि संसारमें महात्मा हैं ही नहीं और हम यह भी नहीं कह सकते कि संसारमें कोई श्रद्धालु सच्चा सेवक (पात्र) भी नहीं है। संसारमें ऐसे पात्र भी मिलते हैं और महात्मा भी; किंतु मिलते हैं बहुत कम। उस कमकी श्रेणीमें ही हमलोगोंको भाग लेना चाहिये अर्थात् उस प्रकारके बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

हमलोगोंको तो यह भाव रखना चाहिये कि केवल हमारे आत्माका ही नहीं, सबका कल्याण हो। अपने आत्माके कल्याणके लिये तो सब जिज्ञासु प्रयत्न करते ही हैं। इसकी अपेक्षा यह भाव बहुत उच्चकोटिका है कि 'सभी हमारे भाई हैं, अतः सभीके साथ हमारा कल्याण होना चाहिये।' इससे भी उच्चकोटिका भाव यह है कि सबका कल्याण होकर उसके बाद हमारा कल्याण हो। इसमें भी मुक्तिकी कामना है, किंतु कामना होनेपर भी निष्कामके तुल्य है और अपने कल्याणके विषयमें कुछ भी कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करता रहे तथा अपना केवल यही उद्देश्य रखे कि 'सबका उद्धार हो', तो यह और भी विशेष उच्चकोटिका भाव है। लक्ष्य तो अपना सबसे उच्चकोटिका ही होना चाहिये। कार्यमें परिणत न भी हो तो भी सिद्धान्त

तो उच्चकोटिका ही रखना उचित है। हमको इस बातका ज्ञान भी हो जाय कि यह उच्चकोटिकी चीज है तो किसी समय वह कार्यमें भी परिणत हो सकती है। ज्ञान ही न हो तो कार्यमें कैसे आवे।

भगवान्‌की भक्ति तो बहुत ही उत्तम वस्तु है। जो मनुष्य भगवान्‌की भक्ति नहीं करता है, उससे तो वह श्रेष्ठ है जो धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्रीकी कामनाके लिये भक्ति करता है। उस सकामी भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो स्त्री, पुत्र, धनके लिये तो नहीं करता, किंतु घोर आपत्ति आ जानेपर उस संकट-निवारणके लिये आर्तनाद करता है। उस आर्त भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो केवल अपनी मुक्तिके लिये, परमात्माके ज्ञानके लिये, उनमें श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये, भजन-ध्यानके साधनके लिये या उनके दर्शनके लिये उनसे प्रार्थना करता है। ऐसा जिज्ञासु उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। उससे भी वह श्रेष्ठ है, जो अपने आत्माके कल्याणके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करता; परंतु अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन ही करता रहता है अर्थात् निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्यभक्ति करता ही रहता है। उसको यह विश्वास है कि 'परमात्माकी प्राप्ति निश्चय अपने-आप ही होगी; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उनके पास प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मुझको अपने कर्तव्यका पालन करते ही रहना चाहिये।' ऐसा निष्कामी उपर्युक्त सभी मनुष्योंसे श्रेष्ठ है। इससे भी श्रेष्ठ वह पुरुष है, जो अपना कल्याण हो, इसके लिये प्रयत्न करता रहता है; किंतु यह भाव भी नहीं रखता कि 'मैं नहीं भी माँगूँगा तो भी भगवान् मेरा कल्याण अवश्य करेंगे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं सब जानते ही हैं।' पर इस भावमें भी सूक्ष्म कामना है, किंतु जो इस बातकी ओर भी ध्यान न देकर केवल अपने

कर्तव्यका ही पालन करता रहता है; बल्कि यह समझता है कि 'निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन करना—भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा करना—यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं सदा भगवान्‌की निष्कामभावसे ही सेवा करूँ, मेरा उत्तरोत्तर केवल भगवान्‌में ही प्रेम बढ़ता रहे'—उसका यह लक्ष्य और भाव बड़ा ही उच्चकोटिका है; क्योंकि वह समझता है कि प्रेम सबसे बढ़कर वस्तु है। परमात्माकी प्राप्तिसे भी परमात्मामें जो अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। इसपर भी भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जैसे प्रह्लादको दर्शन दिये। दर्शन देकर भगवान् आग्रह करें कि मेरे संतोषके लिये जो तेरे जँचे वही माँग ले तो भी हमको प्रह्लादकी भाँति कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। यह बहुत उच्चकोटिका निष्कामभाव है। जैसे भगवान्‌की कृपा होनेपर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त निष्कामी भक्तकी कृपासे भी दूसरोंका कल्याण हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पुरुषके हृदयमें यदि यह दयाका भाव हो जाय कि 'इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि ये पात्र हैं' तो इस भावसे भी लोगोंका कल्याण हो सकता है।

जब भगवान् यह समझते हैं कि इसके हृदयमें कभी यह बात अपने लिये नहीं आयी और इन साधकोंके लिये यह बात आती है कि इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये तो भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान् समझते हैं कि यह इसकी माँग तो नहीं है पर इसका भाव तो है न ; इसके भावकी भी यदि मैं सिद्धि कर दूँ तो वह मेरे लिये गौरवकी बात है; क्योंकि जिसने अपने लिये कभी किसी पदार्थकी कामना की ही नहीं और न अभी करता है और उसके हृदयमें यह भाव है कि इन

सबका कल्याण होना चाहिये तो ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उन साधकोंका कल्याण अवश्य ही करते हैं।

परंतु उस निष्कामी भक्तके हृदयमें यह बात आती है तो वह समझता है कि 'मैं भगवान्के तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानता, नहीं तो, यह बात भी मेरे हृदयमें क्यों आती ? क्योंकि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक ही कर रहे हैं, वहाँ तो कोई अंधेर है ही नहीं। क्या भगवान् मुझसे कम दयालु हैं ? मैं क्या भगवान्से अधिक दयालु हूँ ? क्या मैं ही संसारके जीवोंका कल्याण चाहता हूँ, भगवान् नहीं चाहते। मेरे लिये ऐसा भाव होना या लक्ष्य रखना कि ये पात्र हैं, इनका कल्याण होना चाहिये, अनुचित है। उनकी पात्रताको क्या भगवान् नहीं देखते हैं ? मैं ही पात्रका हित चाहता हूँ, क्या भगवान्में इसकी कमी है ? मुझको तो यह देखते रहना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, भगवान्की लीला हो रही है, मेरे मनमें यह बात भी क्यों आये कि इनका तो कल्याण होना चाहिये और इनका नहीं; क्योंकि संसारके सभी प्राणी मुक्तिके पात्र हैं और मनुष्यमात्र तो हैं ही; फिर अपात्र कौन है ? अपात्र होते तो भगवान् उन्हें मनुष्य क्यों बनाते ? और भगवान्की दयाके तो सभी पात्र हैं; क्योंकि सभी भगवान्की दया चाहते हैं और भगवान्की दयासे सभीका उद्धार हो सकता है।' अवश्य ही भगवान्की दयाके विषयमें यह मान्यता होनी चाहिये कि भगवान्की मुझपर अपार दया है तथा उनकी दयाके प्रभावसे समस्त संसारका उद्धार हो सकता है। इस प्रकार सब लोग इस यथार्थ बातको तत्त्व समझ लें तो सबका कल्याण होना कोई भी बड़ी बात नहीं है। कल्‍ न होनेमें कारण भगवान्की दयाके प्रभावकी कमी नहीं है, उस समझने-माननेकी और श्रद्धा-प्रेमकी कमी है।

हमारे घरमें पारस पड़ा हुआ है; किंतु हम पारसको और उसके प्रभावको न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित हैं और दो-चार पैसोंके लिये दर-दर भटक रहे हैं तो यह पारसका दोष नहीं है। पारसको और उसके प्रभावको हम जानते नहीं हैं, उसीका यह दण्ड है। पारस तो जड है और भगवान् चेतन हैं, इसलिये भगवान् पारससे बढ़कर हैं। पारससे तो महात्मा भी बढ़कर हैं, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या? जो भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह तो स्वयं ही कल्याणस्वरूप है। ऐसे पुरुषोंके अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है, उनकी दयासे दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की दयाके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये। फिर हमलोगोंके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है। भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे हमलोग भी इस प्रकारके उच्च-कोटिके भक्त बन सकते हैं।

कर्तव्यपालनकी आवश्यकता

इसलिये हमको तो चुपचाप अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है और साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझना चाहिये। यहाँ परमात्मा ही साध्य हैं और निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करना ही साधन है। इसलिये हमारी भक्ति अनन्य होनी चाहिये। उसीका नाम अनन्य प्रेम, उसीका नाम अनन्य भक्ति और उसीका नाम अनन्य शरण है; परंतु वह होनी चाहिये विशुद्ध। जिसमें किंचिन्मात्र भी कामना न हो, उसको विशुद्ध कहते हैं। मुक्तिकी कामना भी शुद्ध कामना है और विशुद्ध भावमें तो शुद्ध कामना भी नहीं रहती। अतः हमारा भाव और प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते

****

रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है; इसलिये साधनको साध्य परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर समझना चाहिये। जब यह भाव रहता है, तब परमात्माकी प्राप्तिकी भी कामना हृदयमें नहीं रहती। ऐसे पुरुषके लिये भगवान् उत्सुक रहते हैं कि मैं इसकी इच्छाकी पूर्ति करूँ; किंतु उसमें इच्छा होती ही नहीं। ऐसे भक्तके प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं और उसके प्रति भगवान् अपनेको ऋणी समझते हैं। जो सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान् तो उसके भी अपने-आपको ऋणी मान लेते हैं; फिर ऐसे निष्काम प्रेमी महापुरुषके अपने-आपको भगवान् ऋणी मानें, इसमें तो कहना ही क्या है? वास्तवमें न्याययुक्त विचार करके देखा जाय तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक निष्काम भक्त साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझता है, तब भगवान् यह समझते हैं कि इसका भाव बहुत उच्चकोटिका है, जिसके मूल्यमें मैं बिक जाता हूँ।

यह समझकर हमलोगोंको भगवान्‌की अनन्य और विशुद्ध भक्तिरूप साधन श्रद्धाप्रेमपूर्वक तत्परताके साथ निरन्तर करना चाहिये।



तीन प्रकारकी श्रद्धाका तत्त्व-रहस्य

श्रद्धालुओंकी विभिन्न श्रेणियोंका दिग्दर्शन कराते हुए श्रद्धाकी व्याख्या की जाती है। जो मनुष्य महात्माको वास्तवमें महात्मा समझ लेता है, उसकी उनमें परम श्रद्धा हो जाती है तथा परम श्रद्धा हो जानेके बाद वह उनके शरण हो जाता है। फिर उस श्रद्धालुको कल्याणके लिये अन्य कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता। उन महात्माकी चेष्टा, इच्छा, संकेत और सम्मतिके अनुसार ही उस श्रद्धालुकी क्रिया अपने-आप ही होती रहती है। जैसे भगवान्‌के सर्वथा अनन्य-शरण ग्रहण करके पूर्णरूपेण उन्हींपर निर्भर रहनेवाले भगवत्परायण भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌से ही होती है, वह कुछ नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तापनका भाव रहता ही नहीं, वैसे ही महात्मामें श्रद्धा रखनेवालेकी क्रिया उनके अनुकूल ही हो जाती है। जिस प्रकार उच्चकोटिकी पतिव्रताकी समस्त चेष्टा अपने पतिके अनुकूल ही होती है, प्रत्युत उसकी अनुकूलतामें रुकावट डालनेकी भी उसमें सामर्थ्य नहीं रहती और जैसे कठपुतली सूत्रधारके नचाये ही नाचती है, इसी प्रकार जो महात्मा पुरुषके सर्वथा शरण है, उसकी यह सामर्थ्य नहीं रहती कि मैं ऐसा करूँ, वैसा करूँ; बल्कि वह तो कठपुतलीकी-ज्यों उनके नचाये ही नाचता है। महात्मा पुरुषके भाव, उनकी चेष्टा, संकेत और उद्देश्यके अनुसार अपने-आप उससे क्रिया होती रहती है। उसे तो प्रायः पूरा ज्ञान भी नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूँ। इस प्रकारका श्रद्धालु उच्च श्रेणीका होता है और उसे परम श्रद्धा होनेसे तत्काल परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है।

इससे कुछ निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें श्रद्धा तो है पर वह अनन्य नहीं है, मुख्य है। उसमें कर्तापनका भाव रहता है; ऐसा श्रद्धालु भी महात्माकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह महात्माकी

आज्ञाके सम्मुख अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करता। वह अपने प्राणोंका त्याग कर सकता है, पर महात्माकी आज्ञाका त्याग नहीं कर सकता। उसकी अनन्य श्रद्धा तो नहीं है, किंतु मुख्य श्रद्धा है। उसको जब मालूम हो जाता है कि महात्माकी यह सम्मति है, तब फिर वह उससे बाहर नहीं जा सकता। उससे बाहर जानेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहती। विपरीत जानेकी बात तो दूर रही, वह उनकी सम्मतिमें बाधा भी नहीं डाल सकता। यदि कदाचित् भूलसे कोई कार्य महात्माकी सम्मतिके विपरीत हो जाता है तो उसे पश्चात्ताप होता है; क्योंकि उसमें कर्तापनका अभिमान है और जहाँ कर्तापनका अभिमान है, वहाँ कुछ स्वतन्त्रता है; परंतु जहाँ परम श्रद्धा हो जाती है, वहाँ कर्तापनका अभाव हो जानेके कारण अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। अतः उसे किसी प्रकारके चिन्ता-विषाद और पश्चात्ताप होते ही नहीं।

इससे भी निम्न श्रेणीका श्रद्धालु वह है, जिसकी महात्मामें भी श्रद्धा है और संसारमें भी विश्वास है। सब समय श्रद्धा, विश्वास समान नहीं रहते। कभी महात्मामें नौ आना हो जाती है तो कभी संसारमें। इस प्रकार दोनोंका ही उसपर असर रहता है। वह कभी संसारको आदर देता है तो कभी महात्माको। इसलिये यह सामान्य श्रद्धा है।

जब संसारमें आसक्त होता है, तब कहीं धनके लिये, पदार्थोंके लिये, अपने शरीरके आरामके लिये, मान-बड़ाईके लिये महात्माके वचनोंकी अवहेलना भी कर देता है। कहीं पदार्थोंकी विशेष सत्ता मानकर नीतिकी दृष्टिसे महात्माके कथनको शास्त्रसम्मत, धर्मयुक्त और न्यायसङ्गत नहीं समझता और उनके वचनोंकी अवज्ञा भी कर देता है तथा कहीं अपने मन-बुद्धिके भ्रमसे अनेक युक्तियोंसे उनकी बातोंका प्रतीकार भी कर देता है। इसी प्रकार जब बुद्धिके विवेकके द्वारा,

शास्त्रकी दृष्टिसे, सुनी हुई बातोंकी दृष्टिसे, मन-बुद्धिमें महात्माके प्रति श्रद्धापूर्वक आस्था और महत्त्व हो जानेपर, महात्माके प्रति प्रेम और विश्वासका आविर्भाव होता है, तब उस समय संसारकी, धनकी, शरीरकी, मान-बड़ाईकी अवहेलना कर देता है तथा महात्माकी बात मानकर उनके वचनोंका विशेष आदर करता है; किंतु इन बातोंको समझकर भी जिस समय उसकी अधिक प्रीति संसारकी ओर हो जाती है, उस समय महात्माकी अवहेलना भी कर देता है। वह जितना महात्माका प्रभाव समझता है, उतना ही आदर करता है और जितना आदर करता है, उतनी ही उसकी श्रद्धा समझी जाती है तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसको लाभ मिलता है।



श्रद्धा और अच्छी नीयत

शास्त्रोंमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। वस्तुतः श्रद्धा महिमाके योग्य ही है। श्रद्धासे जो कार्य सहज ही सम्पन्न होता है, वैसा और किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। परमात्माकी प्राप्तिमें तो श्रद्धा ही प्रधान सहायक है। अतएव परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें तो श्रद्धाके बिना काम नहीं चल सकता।

मान लीजिये कि कुछ सज्जन मुझपर श्रद्धा करते हैं और उससे उनमेंसे किसीको लाभ होता है, तो वह उनकी श्रद्धासे होता है। जिसको हम श्रद्धेय पुरुष कहें, या श्रद्धाके योग्य कहें, वैसा श्रद्धाका पात्र मैं अपनेको नहीं मानता। न मुझमें कोई ऐसी योग्यता है, न प्रभाव है, न कोई करामात ही है; परंतु यदि कोई अपनी श्रद्धासे, उस श्रद्धाके बलपर लाभ उठा ले तो उसमें मेरा प्रभाव हेतु नहीं है। अपनी श्रद्धाके द्वारा मनुष्य हर जगह लाभ उठा लेता है। एक पाषाणकी या धातुकी मूर्तिमें भगवान्‌की भावना करके उसे प्रत्यक्ष भगवान् समझकर हम लाभ उठाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थसे अपनी श्रद्धाके बलपर लाभ उठा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसीपर किन्हींकी श्रद्धा है और यदि वे उसे श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं तो उसकी बातका उनपर तुरंत असर होता है। मान लीजिये; दो व्यक्ति हैं और दोनों ही मुझपर श्रद्धा रखते हैं। किसी बातको लेकर उनके आपसमें मनमुटाव या वैमनस्य हो गया। झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि कोर्टमें जानेकी तैयारी हो गयी। ऐसी अवस्थामें यदि उन दोनोंके मेरे पास आनेपर या मैं स्वयं ही बुलाकर उनको समझा दूँ और श्रद्धाके कारण मुझे पक्षपातरहित मानकर वे तुरंत मेरी बात मान लें तो बहुत दिनोंका झगड़ा मिनटोंमें ही मिट जाता है। श्रद्धा न होनेपर ऐसा नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे

****

द्धा करनेवालोंका विरोध नहीं किया जाय तो कोई दोष नहीं। कोई मारी बात मानकर अपना सुधार करें, अपनी भूलोंको समझकर उन्हें छोड़ दें, तो ऐसी परिस्थितिमें हमको विरोध क्यों करना चाहिये ? हाँ, यदि कोई श्रद्धासे शरीरकी सेवा-पूजा करे तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिये। हम तो जो कुछ कहते हैं अधिकांशमें गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदि शास्त्रोंके आधारपर कहते हैं। शास्त्र त्रिकालज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी ऋषियोंकी वाणी है और श्रीमद्भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान्‌के दिव्य वचन ही हैं। इस प्रकार ऋषि-मुनि-महात्मा और भगवान्‌के वचनोंपर निर्भर करके उन्हींके आधारपर जो बात कही जाती है, वह तो वस्तुतः उन्हींकी बात है। कहनेवाला तो केवल अनुवादमात्र करता है। यदि लोग श्रीभगवान्‌के और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको मानकर अपना कल्याण-साधन करें तो बहुत उत्तम बात है। वे वचन कल्याणकारी और उच्चकोटिके हैं ही, कोई भी उनके अनुसार अपना जीवन बनाये तो उसका कल्याण हो सकता है—मैं बनाऊँगा तो मेरा, दूसरे कोई बनायेंगे तो उनका । ऋषि-महात्मा और भगवान्‌के इन वचनोंका सभीको आदर करना चाहिये और उन्हें काममें लानेकी श्रद्धापूर्वक विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वर्षोंतक इन वचनोंके सुननेपर भी यदि लाभ नहीं देखा जाता या बहुत कम देखा जाता है, तो इसमें कारण यही है कि उन वचनोंके अनुसार क्रिया नहीं की गयी। ऋषि-मुनियोंके और भगवान्‌के वचनोंके सुनने-सुनानेमें जो समय लगा, वह समय तो अवश्य ही सार्थक हुआ, परंतु उन वचनोंका सदुपयोग तभी होता; जब हमलोग उन वचनोंके अनुसार अपना जीवन बना लेते। एक दिनके भी सुने-सुनाये हुए

****

महात्माओंके और भगवान्‌के वचन काममें लाये जायँ तो कार्य सफल हो सकता है। फिर श्रद्धा होनेपर कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है? महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा करनेसे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि यदि किसीको प्रत्यक्षमें महात्मा नहीं मिले तो शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार चलनेसे भी कल्याण हो सकता है।

चौथी बात यह है कि भगवान्‌के भक्तों या महात्मा पुरुषोंमें अथवा उनमें जिनकी श्रद्धा है, ऐसे साधकोंमें श्रद्धा करने और उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत अधिक लाभ हो सकता है।

पाँचवीं बात यह है कि अपने शुद्ध अन्तःकरणमें—जिसमें स्वार्थका त्याग और पक्षपातका अभाव है—जिसमें समभाव है, ऐसे पवित्र अन्तःकरणवाले साधकके हृदयमें जो भगवत्कृपासे स्फुरणा होती है, उसको आदर्श मानकर यदि मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक उसके अनुसार भी साधन करता है अथवा जो अपने मन-बुद्धिके निर्णयके अनुसार जिसको शुद्ध नीयतसे उत्तम समझता है, उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है, उसका भी कार्य चल सकता है। शास्त्रोंपर, महात्मापर और ईश्वरपर भी विश्वास न हो तो उस परिस्थितिमें मनुष्यको अपनी बुद्धिपर तो विश्वास करना ही चाहिये।

संसारमें परस्पर विरोधी जो दो-दो पदार्थ हैं, उनको सामने रखकर निर्णय करना चाहिये और उनमें जिसको कल्याणकारक—शुभ समझे, उसका आचरण करना चाहिये और जिसको अनिष्टकारक—अशुभ समझे, उसका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेपर भी कल्याण हो सकता है। जैसे, सत्यभाषण

और मिथ्याभाषण—इन दोनोंको अपने सामने रखकर बुद्धिसे विचार करे कि इन दोनोंमें सत्य श्रेष्ठ है या मिथ्या। ठीक-ठीक विचार करनेपर मनुष्य यही कहेगा कि 'श्रेष्ठ तो सत्य ही है। लोभके वशमें होकर या अन्य किसी कारणसे मनुष्य असत्य बोलता है, परंतु वास्तवमें तो सत्य ही कल्याणकारक है।' इस निर्णयके अनुसार सत्यको शुभकी श्रेणीमें रख ले और मिथ्याको अशुभकी। इसी प्रकार एक ओर किसीको दुःख पहुँचाना और मारना-काटना हो और दूसरी ओर सबको आराम पहुँचाना, सेवा करना और उपकार करना हो। इन दोनोंमें अच्छे-बुरेका बुद्धिके अनुसार निर्णय करे, तो संसारमें कोई किसी भी सिद्धान्तका माननेवाला क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पालन न कर सकता हो, पर वह निर्णय तो यही देगा कि 'आराम पहुँचाना, सेवा, उपकार और हित करना ही श्रेष्ठ है। चोट पहुँचाना, मारना, काटना और अहित करना सर्वथा अन्याय है।' जब यह निर्णय हो गया, तब सेवा, उपकार आदिको शुभकी श्रेणीमें रख ले और हिंसा आदिको अशुभकी श्रेणीमें। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन और व्यभिचार, विषय-भोगोंमें आसक्ति और विषय-वैराग्य तथा विषय-भोग और विषयोंका त्याग—इनपर विचार करे। विचार करनेपर यही सिद्ध होगा कि ब्रह्मचर्यका पालन, विषय-वैराग्य और विषयत्याग ही उत्तम है; अतः ब्रह्मचर्य और वैराग्य-त्यागको शुभकी श्रेणीमें एवं व्यभिचार तथा विषयासक्ति और विषयभोगको अशुभकी श्रेणीमें रखे। कोई भी आदमी ब्रह्मचर्य और त्यागके श्रेष्ठत्व और महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकता। भोगी आदमी भी यही कहेगा कि 'भाई! मैं तो भोगासक्त हूँ, परंतु भोग और त्यागका मुकाबला करनेपर तो त्याग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। त्यागसे शान्ति मिलती है'—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। विरक्त

****

त्यागी पुरुषोंकी लोक-परलोकमें सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, पर भोगासक्त और विषयभोगीकी प्रतिष्ठा कहीं भी नहीं होती।

एक ऐसा आदमी है, जो दूसरेके धनपर उसे अन्यायपूर्वक प्राप्त करनेके लिये निरन्तर दृष्टि गड़ाये रहता है और परापवाद करने तथा पर-धनको हड़पनेमें ही अपना गौरव मानता है; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेके धनको धूल या विषके समान समझता है, जिसकी दूसरेके पद, धन या किसी प्रकारके पदार्थपर तो ग्लानि है ही; परंतु अपने निजी स्वत्वपर भी वह मोह-ममता न करके उसपर अनासक्त ही रहता है। भाव यह कि एक ऐसा मनुष्य है, जो अपनी चीजको तो अपनी मानता है और कहीं दूसरेकी चीज हाथ लग जाय तो उसे अपनी बनानेमें तनिक भी हिचकता नहीं। चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे—कैसे भी मिले; किंतु दूसरा एक ऐसा पुरुष है, जो दूसरेकी चीजके चुरानेकी कल्पना ही नहीं करता, पर यदि दूसरा कोई उसकी चीज चुराकर ले जाता है तो समझता है कि 'यह चीज इसके काम आ जाय तो ठीक है।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके लोगोंके कार्योंपर तथा नीयतपर विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक ओर विषय-विरक्ति है, त्याग है, उदारता है। दूसरी ओर विषयानुराग है, चोरी है, डकैती है और परस्वापहरण है— यों विचार करके उदारता आदिको शुभमें रखे और परस्वापहरण आदिको अशुभमें। इसी प्रकार संसारके सभी पदार्थोंके दो-दो विभाग करनेसे शुभ और अशुभकी एक सुन्दर सूची बन जायगी। उसमें शुभको दैवीसम्पदा कह सकते हैं और अशुभको आसुरी। इसी प्रकार एक ओर त्याग, क्षमा, दया आदि सद्गुण हैं और दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण हैं। जिस ओर

सद्गुण हैं, वहाँ दैवीसम्पत्ति है और अवगुण हैं उस ओर आसुरीसम्पत्ति। दैवीसम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी बन्धनके लिये—

'दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

(गीता १६।५)

दैवीसम्पत्तिवाला जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है और आसुरीसम्पत्तिवाला बन्धनमें जकड़ा हुआ बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहता है। इस प्रकार अच्छी नीयतसे मनुष्य अपनी बुद्धिपर निर्भर करके आत्माके कल्याणकी इच्छासे विवेचन करके शुभका ग्रहण कर लेता है तो उसका उद्धार हो जाता है, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो।

अच्छी नीयतका अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकमें मेरा और सभी भाइयोंका कल्याण हो। इस नीयतसे जो आचरण किया जाता है, उसका नाम 'अच्छी नीयत' है। इससे भी श्रेष्ठ वह नीयत मानी जाती है कि जिसमें अपनेको बाद देकर यह चाहा जाय कि 'इस लोक और परलोकमें सबका कल्याण हो जाय।' इससे भी श्रेष्ठ एक नीयत और होती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये, एक जगह बहुत-से सज्जन बैठे हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'आपलोगोंमेंसे किसी एक आदमीको चुनकर बता दें तो उसका उद्धार किया जा सकता है अर्थात् आपलोगोंकी तपस्या, भक्ति, साधनाको शामिल करके उसके फलस्वरूप आपमेंसे केवल एक व्यक्तिका कल्याण हो सकता है।' इसके उत्तरमें जो यह कहता है कि 'प्रभो! एक मुझको छोड़कर आपकी इच्छा हो, उसीका कल्याण कर दें, तो वह कल्याणका अधिकारी हो गया और जो ऐसा कहता है कि 'प्रभो! मेरा कल्याण

कर दो।' तो वह स्वार्थी मनुष्य है। सभी लोग यह कहें कि 'मेरा कल्याण कर दो।' 'मेरा कल्याण कर दो'—तो एकका भी कल्याण नहीं हो सकता। और सभी एक स्वरमें यह कहें कि 'मुझे छोड़कर चाहे जिसका कल्याण कर दिया जाय।' तो सभी कल्याणके पात्र हो जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् सबको दर्शन देकर उनका उद्धार कर सकते हैं; क्योंकि स्वार्थ-त्यागका बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार अपने साधन, तप, भक्ति आदिको देकर दूसरेका कल्याण करना बड़ी श्रेष्ठ नीयत है। इससे भी श्रेष्ठ नीयत एक और है—वहाँ मनुष्य यह सोचता है कि 'लोगोंका कल्याण न होनेमें कारण उनके पाप हैं। इसलिये उन सबके पाप मुझको भुगता दिये जायँ और उन सबका कल्याण कर दिया जाय।' ऐसी श्रेष्ठ नीयतवाले पुरुषका कल्याण भगवान्के यहाँ सबसे पहले होता है, परंतु 'इस प्रकारकी नीयत रखनेसे सबसे पहले मेरा उद्धार हो जायगा' इस दृष्टिसे ऐसा नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसके भीतर भी आत्मोद्धारका स्वार्थ ही है। अतः अपने तो हृदयमें यही बात विशुद्ध भावसे होनी चाहिये कि 'सबका कल्याण हो, सबका हित हो और यदि पापके कारण किसीका हित न होता हो और उसके पाप हमारे भोगनेसे उसका कल्याण हो जाता हो तो उसके पाप हम भोग लें।' यह सर्वोत्तम भाव है।

यद्यपि मुझमें यह भाव नहीं है कि मैं सबका पाप भोग लूँ और सबका उद्धार हो जाय। यह तो मैं आपसे कह रहा हूँ और वास्तवमें यह है बहुत ऊँची बात। अच्छे लोगोंके मनोंमें भी यह बात आ जाती है कि यह बड़ी कठिन है। जब मनुष्यके लिये रुपयोंका त्याग करना भी बड़ा कठिन होता है, तब यह तो मुक्तिका त्याग है। मुक्तिका ही नहीं, आरामका ही नहीं, दूसरोंके पापोंके फलस्वरूप कष्ट-भोगका

स्वीकार करना है। कितना महान् त्याग है।

आप निष्कामभावसे और अच्छी नीयतसे मेरा हित कर रहे हैं और इसी बीचमें आपसे कोई गलती हो गयी तथा उसके लिये आपको संकोच भी हो रहा है; किंतु मैं यह कहता हूँ कि 'आपको संकोच नहीं करना चाहिये। आप तो मेरे ही हितके लिये कर रहे थे। भूल हो गयी, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो मेरे भाग्यकी बात है।' इस वाक्यमें 'यह तो मेरे भाग्यकी बात है'—इन शब्दोंसे आपके मनमें यह बात आ सकती है कि 'भूल तो सर्वथा मेरी थी और इनको अपने भाग्यका दोष बताना पड़ा।' यह अच्छी नीयतका एक उदाहरण है। जिनकी अच्छी नीयत है, वे ही वस्तुतः सत्पुरुष हैं और उन्हींकी लोक-परलोकमें तथा भगवान्के यहाँ भी प्रतिष्ठा है। एक आदमीके पास पैसा नहीं है, पर वह लाखोंका व्यापार करता है और उसकी सच्ची नीयतपर विश्वास करके निर्भयताके साथ लोग उससे लाखोंका लेन-देन करते हैं। दूसरे एक व्यक्तिके पास लाखों रुपये हैं, पर वह दूसरेका धन हड़पनेकी नीयत रखता है, इसलिये लोग उससे व्यवहार नहीं रखना चाहते। लोग जानते हैं कि यह बेईमान है। रुपये हाथमें चले जानेके बाद यह लौटायेगा नहीं। इस प्रकार विचार करके उसे लोग एक पैसा भी देना नहीं चाहते; किंतु जिसकी अच्छी नीयत है, जिसपर विश्वास है, उससे आग्रह करके, बिना व्याजके भी, अपनी रकम उसके यहाँ सुरक्षित मानकर जमा कराना चाहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि 'जो चोरी नहीं करता, दूसरेके धनको, पदको, जमीन-मकानको, ऐश्वर्यको, किसी प्रकारके स्वत्वको हड़पना नहीं चाहता—चोरीसे, जोरीसे या ठगीसे। इस प्रकार चोरीके भावसे सर्वथा रहित पुरुषके लिये सब जगह रत्न उपस्थित हो जाते हैं ।' इसका

यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सब लोग उसका विश्वास करते हैं, उसकी दृष्टिमें रत्न-ही-रत्न भरे रहते हैं। दूसरेके धनको वह किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहता। उसमें यह महान् गुण है। इसलिये प्रत्येक भाईको अपनी नीयत शुद्ध और शुभ बनानी चाहिये। दूसरेके धनको मलके समान समझकर उसका त्याग करना चाहिये। मल स्वयं तो गंदा है ही; परंतु यदि किसीके कपड़ेमें या शरीरपर लग जाता है तो उसे भी गंदा कर देता है। पहले अपने शरीरपर या कपड़ेपर मल लगावें और फिर उसे गङ्गाजल या शुद्ध जलसे धोवें, यह भी अज्ञान ही है। कितना भी धोया जाय, उसकी गन्ध तो रह ही जाती है। अतएव यह समझे कि इस बेहकके धनको लेकर हम किसी अच्छे काममें लगा देंगे तो यह भी भूलकी बात है। दूसरेके धनको या उसके हककी किसी चीजको मलकी भाँति छूना ही नहीं चाहिये। यदि छू जाय तो तुरंत हाथ धोकर शुद्ध करना चाहिये। अर्थात् दूसरेका धन बुरी नीयतसे तो कभी ग्रहण करे ही नहीं; परंतु जैसे गङ्गास्नान करने गये और वहाँ कोई गहना पड़ा मिल गया, उसे उसके मालिकको ढूँढ़कर दे देनेके लिये उठा लाये। मालिक मिला नहीं, ऐसी अवस्थामें उसे जब किसी पुण्यकर्ममें लगाया जाय तो अपने पाससे कुछ और मिलाकर ही लगाना चाहिये। यही छू लेनेपर हाथ धोना है। दूसरेका धन है न, उसे पुण्य करनेका भी हमें क्या अधिकार है ?

प्राचीन युगमें तो इस प्रकारके पड़े हुए धनको उठाकर लानेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि सभी लोग उसे विष और मलके समान समझते थे। उसपर किसीका मन चलता ही न था। पर आज कलियुगका जमाना है, अपात्रके हाथों चीज न चली जाय और उसकी रक्षा हो, इसलिये मालिकका पता लगाकर उसको सौंप देनेकी दृष्टिसे

उसे उठा लाना न्याय-संगत प्रतीत होता है। अस्तु,

श्रेष्ठ नीयत अर्थात् उत्तम भावकी लोक-परलोक और भगवान्‌के यहाँ इज्जत-प्रतिष्ठा है। किसी मत-मतान्तरका कोई भी पुरुष क्यों न हो, अच्छी नीयतवालेकी सभी इज्जत करते हैं। इस बातको समझकर परधन—परस्व आदिको पाप तथा मल-मूत्रके समान त्याज्य मानना चाहिये। उत्तम भाव तो यह है कि यदि ये चीजें किसी दाताके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दानमें प्राप्त होती हों तब भी वे त्याज्य ही हैं; क्योंकि ये छूने योग्य नहीं हैं और यदि कभी इन्हें छूना पड़े तो केवल उसी अवस्थामें जब कि देनेवालेका हित होता हो। अपने स्वार्थके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये तो कभी इनको स्वीकार करे ही नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि 'दाताको हमारे स्वीकार न करनेसे दुःख हो तथा स्वीकार करनेपर विशेष संतोष हो और इस प्रकार समझकर कोई उस वस्तुको स्वीकार कर ले कि 'हमारे निमित्तसे दूसरेको दुःख क्यों हो, हमसे सेवा तो नहीं बनती, पर हम दूसरेके दुःखमें निमित्त क्यों बनें तो इसमें जो देता है, उस दाताका तो कल्याण होता है; परंतु ग्रहीतापर तो ऋण ही चढ़ता है। उसका भार तो बढ़ता ही है न ?' तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है, जहाँ त्याग है, वहाँ दोनोंका ही कल्याण होता है। कोई कहे कि फिर वह कल्याण आता कहाँसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'वह आता है भगवान्‌के यहाँसे।' भगवान्‌के यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है, वे तो कल्याणके भण्डार हैं और इस प्रकारकी त्यागपूर्ण बातोंको देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

उदाहरणके लिये मान लीजिये, कोई सज्जन किसी गृहस्थके घर गये। वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे उनका आतिथ्य करना चाहता है। अच्छा भोजन करवाना, स्वच्छ जल

****

पिलाना और कुछ सेवा करना चाहता है, किंतु वे अतिथि सज्जन इस प्रकार अपने लिये कुछ भी करवाना भार—ऋण समझते हैं, इसीलिये उससे पीछे हटते हैं और हर प्रकारसे अस्वीकार करते हैं। सत्य ही कहते हैं कि 'हमने कुछ ही देर पहले भोजन किया था। जल तो पीकर ही आये हैं।' वह कहता है 'फल ही ले लें' कहते हैं— 'नहीं, बिलकुल इच्छा नहीं है।' तब वह कहता है कि 'कुछ तो मेरे संतोषके लिये आपको लेना ही चाहिये।' इसपर यदि उक्त सज्जनने लौंग, इलायची ले लीं और अपनी जेबमें डाल लीं और इतनेमें उसे संतोष हो गया तब तो ठीक ही है। पर यदि वह अपने भाग्यको कोसने लगा कि 'मैं बड़ा अभागा हूँ कि हमारे घरपर अतिथि आये, पर वे हमारा आतिथ्य किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते।' मैं सोनेके लिये चारपाई लाकर रखता हूँ तो कहते हैं—'हम चारपाईपर सोते नहीं।' बिछौना लगाता हूँ तो कहते हैं कि 'बिछौना तो हमारे साथमें है।' फिर मैं क्या सेवा करूँ? जलके लिये पूछता हूँ तो कहते हैं कि 'मैं अपने-आप कुएँसे निकाल लूँगा; क्योंकि मेरा ऐसा ही अभ्यास है।' फिर वह करुणाभावसे कहता है कि 'मैं किसी भी लायक नहीं, किसी भी सेवाके योग्य नहीं।' और वे सज्जन देखते हैं कि उसके करुणाभावसे आँसू आ रहे हैं, वह अपनेको अभागा समझकर निराशा प्रकट कर रहा है और दुःखी है, तो ऐसे अवसरपर उक्त अतिथि सज्जनका यह कहना कर्तव्य हो जाता है कि 'बोलो, तुम क्या चाहते हो?' इसपर वह गृहस्थी सेवक कहता है—'मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ तो सेवा स्वीकार करें, दूध है, फल है—यही ले लें तो भी ठीक है।' इसपर वे अतिथि सज्जन कहते हैं कि 'अच्छा, तो ठीक है, तुम्हारे पास समय जो फल, दूध या जो शुद्ध पवित्र चीज हो, वह दे दो।

कहकर वे अतिथि सज्जन अपने आवश्यकतानुसार उसके दिये हुए दूधको पी लें, फल खा लें, जल भी पी लें, तो वह गृहस्थी प्रसन्न हो जाता है और वह समझता है कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया। इस कर्तव्यके पालनसे अपनेको वह कृतकृत्य मान लेता है।

उक्त अतिथि सज्जनने उसके हितके लिये, उसके कल्याणके लिये, उसके संतोषके लिये, उसके दुःखकी निवृत्तिके लिये ये चीजें स्वीकार कीं। उन्होंने न तो अपने आराम, भोग और स्वास्थ्यके लिये वस्तुएँ लीं और न 'पैसे बच जायँगे, परिश्रम बच जायगा, दूध-फलके खानेमें आराम मिलेगा'—यह कल्पना की। केवल मात्र उसको सुख-शान्ति मिलेगी, इसीलिये यह सब स्वीकार किया। इस प्रकार यदि अतिथिने निष्कामभावसे वस्तुएँ स्वीकार कीं और गृहस्थी दाताने निष्कामभावसे सेवा की तो दोनोंका ही कल्याण हो सकता है। महत्ता तो उत्तम भावकी है और जिसमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है वही उत्तम भाव है— बढ़िया नीयत है। दूसरेको किसी प्रकारसे संतोष कराना ही अपना परम धर्म है। अतः वे सज्जन अपने परम धर्मको निष्कामभावसे पालन कर रहे हैं और वह भी उनको अतिथि समझकर अपने परम धर्मका निष्कामभावसे पालन कर रहा है। भगवान् न्यायकर्ता और सबके सुहृद् हैं। वे समस्त रहस्यको जाननेवाले हैं तो फिर इन दोनोंके लिये भगवान्‌के यहाँ स्थान क्यों नहीं होगा ? स्थान ही नहीं, भगवान् तो मुग्ध हो सकते हैं—दोनोंकी दान तथा ग्रहणकी पवित्र क्रिया देखकर।

राज्य मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं है, मुक्तिको देनेवाली वस्तु तो त्याग है। अयोध्याका विशाल राज्य है। उसे भरतजी भी ठुकरा रहे हैं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक

प्रकारसे यही बर्ताव है कि भरत राज्य स्वीकार करके चौदह वर्षतक राज्य करें और भरतकी हर प्रकारसे यही चेष्टा है कि भगवान् श्रीराम ही राजा बनकर राज्य करें। आखिर, राज्य स्वीकार करना पड़ता है भरतको। पर वह जिस भावसे, जिस पवित्र परिस्थितिमें स्वीकार करना पड़ता है वह भरतके लिये कलङ्क नहीं आभूषण है, कल्याणमय है। भरतजी यदि कैकेयीकी आज्ञासे राज्य करते तो उनके लिये वह कलङ्कका टीका था—दुर्गतिरूप था। लोग भी निन्दा करते कि 'माँने तो बुरा काम किया था; किंतु भरतने भी सम्मति करके उसे स्वीकार कर लिया।' भरतजी भगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं तो ऐसा काम कर रहा हूँ जो बहुत ही निम्न-श्रेणीका है। मैं पिताजीके और आपके वचनोंका भी उल्लङ्घन करके यहाँ आपको लेने चला आया। मैंने सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और इसपर भी आप मेरी बड़ाई करते हैं कि 'भरत तेरे समान तू ही है।' तो यह तो आपका स्वभाव है।' भरतजीका तो ऐसा ही भाव होना चाहिये तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी भरतका यह बर्ताव बहुत ही उच्चकोटिका है। भरतजी यदि माता कैकेयीको यह कहते—'माता! तैने मेरे लिये यह बड़ा अच्छा किया और मन्थराने भी बड़ी सहायता की।' और अपना हक समझकर राज्य स्वीकार कर लेते तो वह शास्त्रानुसार भरतके लिये दुर्गतिका कारण बनता और उनकी माता कैकेयी तथा दासी मन्थराकी भी दुर्गति होती; किंतु भरतजीने तो ऐसा पवित्र कार्य किया कि अपनी माताको भी दुर्गतिसे बचा लिया। माता-पिताकी पापमयी आज्ञाका पालन करनेवाला लड़का भी नरकमें जाता है और उसके माता-पिता भी नरकमें जाते हैं। कोई लड़का माता-पिताकी आज्ञासे चोरी करके लाता है तो केवल उस लड़केके ही

हथकड़ी नहीं पड़ती, उसके माता-पिता भी पकड़े तथा बाँधे जाते हैं। भरतजीकी नीयत कितनी ऊँची थी। उनका यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र वापस अयोध्या लौट चलें और राज्य करें। भरतकी यह नीयत बहुत ही उत्तम मानी गयी; पर भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह नीयत नहीं थी कि हम जाकर राज्य करें। वे तो उसको पाप समझते हैं। भरत यदि चाहते हैं कि भगवान् अयोध्या लौटकर राज्य करें तो भरतके लिये तो यह सर्वथा शोभनीय भूषण है, उनके लिये तो यह परम कल्याण-स्वरूप है; पर यदि भगवान् श्रीराम इसे स्वीकार करें तो श्रीरामके लिये कलङ्क है। सबसे उत्तम नीयत वही है—जिसमें न्याय हो, उदारता हो, स्वार्थका सर्वथा त्याग हो, निष्कामभाव हो। न्यायसे ऊँचा दर्जा उदारताका है, उदारतासे ऊँचा दर्जा स्वार्थ-त्यागका है और स्वार्थत्यागसे भी ऊँचा दर्जा निष्कामभावका है। स्वार्थत्याग तो है; परंतु उसमें निष्कामभाव नहीं है, तो वह अपेक्षाकृत निम्नश्रेणीकी ही चीज है। जैसे समतासे त्याग श्रेष्ठ है, ऐसे ही स्वार्थत्यागमें भी जो निष्कामभाव है, जो त्यागका भी त्याग है, वही सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ सर्वोत्तम नीयत है, वहाँ सब कुछ है। सर्वोत्तम नीयत हो तो ये सारे बर्ताव अपने-आप होने लगते हैं, उसको कुछ भी सीखना-सिखाना नहीं पड़ता।



महापुरुषोंके गुण-प्रभाव

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपु० माहे० कु० ५५।१४०)

'जिसका चित्त इस ज्ञान और अपार आनन्द-सागररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है, उस महापुरुषसे उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और (उसके चरण टिकनेसे) पृथ्वी पुण्यवती— पवित्र हो जाती है।'

जिस प्रकार भगवान्‌के गुण-प्रभाव अपरिमित हैं, उसी प्रकार महापुरुषके गुण और प्रभाव भी अपरिमित हैं; वाणीके द्वारा कोई भी उनका वर्णन नहीं कर सकता; बल्कि भगवान् तो अपने भक्तोंको अपनी अपेक्षा ऊँचा मानते हैं। भगवान्‌ने स्वयं अपनेको अम्बरीषके प्रसङ्गमें 'भक्तोंके पराधीन' बतलाया है—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

'दुर्वासाजी! मैं अस्वतन्त्रकी भाँति सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। वे अपार महिमाशाली हैं। कोई भी उनकी महिमाका यथार्थ गान नहीं कर सकता। शास्त्रोंने महात्माओंके सङ्गकी और महात्माओंकी जो महिमा गायी है, वह भी वस्तुतः परिमित ही है, अतः उनकी यथार्थ महिमाका वर्णन नहीं हो सकता।

ऐसे महापुरुषके सङ्गसे ही मोहका नाश होकर भगवच्चरण निश्चल प्रेम होता है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

संसारके भोग-पदार्थोंमें सुख और नित्यताका बोध बड़ा भारी मोह है, इस मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ अनुराग नहीं होता। मोहका नाश होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको बतलानेवाली हरिकथा नित्य अवश्य होनी चाहिये और विशुद्ध हरिकथा सत्सङ्गके बिना प्राप्त नहीं होती। इसीसे महत्सङ्गकी इतनी महिमा है। बल्कि सत्सङ्गके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

अर्थात् हे प्यारे! स्वर्ग और मोक्षके सुखको एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरेपर क्षणमात्रके सत्सङ्ग-सुखको रखा जाय, तो ये सब (स्वर्ग-मोक्षादिके सुख) मिलकर भी उसके समान नहीं हो सकते। इसी आशयका श्रीमद्भागवतमें श्लोक है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

'भगवत्-सङ्गीके लवमात्रके सङ्गके साथ भी हम स्वर्ग तो क्या मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

'सत्' परमात्माको कहते हैं, अतएव सर्वोत्तम सत्सङ्ग तो परमात्माका सङ्ग ही है, जो उन महापुरुषोंको प्राप्त रहता है। द्वितीय श्रेणीका सत्सङ्ग उन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका सङ्ग है। ऐसे सङ्गकी

महिमा बतलाते हुए संत कहते हैं—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साध की कटै कोटि अपराध॥

चौबीस मिनटकी एक घड़ी होती है। उससे आधी बारह मिनट और उस आधीकी आधी छः मिनट होती है, यदि छः मिनट भी संतोंका सङ्ग हो जाय तो करोड़ों पाप कट जाते हैं।

सत्सङ्गमें जो बात सुनी जाती है, उसे काममें लानेपर निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें तेरहवें अध्यायके २५ वें श्लोकमें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

तत्त्वदर्शी महात्माओंसे उपदेश प्राप्त करनेकी आज्ञा देते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट

छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

चित्त-निरोधका साधन बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि 'वीतराग— विषयासक्तिरहित महात्मा पुरुषोंका चिन्तन करनेसे चित्त-निरोध हो जाता है।'

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' (योगदर्शन १।३७)

इससे यह सिद्ध है, महापुरुषोंके चिन्तनमात्रसे ही चित्त शुद्ध होकर परमात्मामें एकाग्र हो सकता है, तब जिनको महापुरुषोंका सङ्ग करने और उनके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, उनके लिये तो कहना ही क्या है? इस प्रकारके उच्चकोटिके महापुरुष और वीतराग-शिरोमणि महात्माओंमें श्रीशुकदेवजी महाराजका नाम मुख्यरूपसे लिया जा सकता है। ऐसे पुरुषोंके ध्यानसे चित्त शुद्ध और स्थिर होनेमें तो कोई शङ्का ही नहीं करनी चाहिये।

तत्त्वज्ञानी जडभरतने जिज्ञासु राजा रहूगणसे 'महात्मा पुरुषोंके चरण-रज-कणमें स्नान किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता' यह बतलाते हुए कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१२।१२)

'रहूगण! महापुरुषोंकी चरण-रजमें अपनेको स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, अतिथि-सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित कर्म,

वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।'

इन महापुरुषोंमें प्रायः दो तरहके होते हैं— १-दिव्य भगवद्धाममें रहनेवाले भगवान्‌के परिकर या कारक (अधिकारी पुरुष), जो भगवान्‌की लीलामें अपना-अपना कार्य करनेके लिये अथवा संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर इस मर्त्यधाममें पधारते हैं। अधिकारी या कारक पुरुष स्वभावसे ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, उनके शरीर अलौकिक, अनामय, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके श्रद्धापूर्वक दर्शन, भाषण और स्पर्श ही नहीं, स्मरणसे भी मनुष्य पवित्र हो सकते हैं। महात्मा वेदव्यास इसी प्रकारके कारक पुरुष हैं, जो भगवत्प्रेरणासे संसारके कल्याणार्थ प्रकट हुए थे। इसी प्रकार श्रीगोपियोंमें भी वहुत-सी भगवान्‌के परिकर-श्रेणीकी मानी जाती हैं, जो भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होनेके लिये आयी थीं। कहा जाता है कि गोपियोंमें कुछ वेदकी श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्यासिद्ध ऋषि थे और कुछ दण्डकारण्यके मुनि थे। ये सभी बातें सत्य हो सकती हैं। जो कुछ भी हो, गोपियाँ थीं भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम करनेवाली महान् भक्तिमती। इसीसे भक्तराज श्रीउद्धवजीने कहा है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

'क्या ही अच्छा हो कि मैं इस वृन्दावनमें कोई झाड़-लता या जड़ी-बूटी बन जाऊँ, जिससे इन गोपियोंकी चरणधूलि निरन्तर मुझपर

पड़ती रहे, मैं इनकी चरणरजमें स्नान करके धन्य हो जाऊँ। इन्होंने, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजनोंको तथा आर्यपथको परित्याग कर उन भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है, जिनको श्रुतियाँ सदा ढूँढ़ती रहती हैं, परंतु पातीं नहीं।'

२-दूसरे महापुरुष वे हैं, जिनका इस लोकमें जन्म तो पुण्य-पापरूप प्रारब्ध कर्मसे हुआ है, पर जो साधनमें लगकर उन परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करके मनुष्य मुक्ति पा सकता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक लाभ होता है। श्रद्धा अन्तःकरणकी शुद्धिके अनुसार होती है। अन्तःकरणकी शुद्धिके उपाय हैं—निष्कामभावसे किये हुए तीर्थ, व्रत, उपवास, दान, तप और अन्यान्य उत्तम अनुष्ठान। निष्काम सत्सङ्ग-स्वाध्याय और भजन-ध्यानसे तो अन्तःकरणकी शुद्धि बहुत ही शीघ्र होती है। अन्तःशुद्धिसे तदनुसार श्रद्धा हो जाती है, श्रद्धासे प्रेम होता है और प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्ति।

अतएव शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंमें विशेषरूपसे श्रद्धा करनी चाहिये। आत्माकी सत्तामें भी इस प्रकार श्रद्धा करनी चाहिये कि शरीरपात होनेके बाद मैं (आत्मा) रहूँगा। गीता कहती है—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (२।२०)

शरीरके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। मरनेके बाद परलोककी प्राप्ति अवश्य होगी। इस विश्वाससे मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विशेष चेष्टा करता है। 'परलोक है और वहाँ पापका फल अवश्य मिलेगा।' इस प्रकार विश्वास करनेवाला मनुष्य पाप नहीं कर

****

सकता। ईश्वर, महापुरुष और शास्त्रमें विश्वास करनेवाला भी पाप नहीं कर सकता। शास्त्र महापुरुषोंके ही वचन हैं। परलोकका प्रमाण महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंसे सिद्ध है—

> **न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
> **न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥**
> **देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
> **तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥**

(गीता २। १२-१३)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

इसलिये ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंपर हमें श्रद्धा-विश्वास अवश्य करना चाहिये। अस्तु !

श्रद्धापूर्वक किये हुए महापुरुषोंके स्मरण, दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तब उनके सेवा और आज्ञापालनसे कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? अतः महापुरुषोंके आज्ञानुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

महापुरुष इतने क्षमाशील होते हैं कि वे अपने प्रति किये गये किसीके अपराधकी ओर देखते ही नहीं। साधारण लोग अपनेको गाली देनेवालेको दुगुनी-चौगुनी गाली देते हैं, मार बैठते हैं; उनसे ऊँचे साधारण व्यक्ति गालीका बदला गालीसे देते हैं; उनसे ऊँचे मनुष्य गाली तो नहीं देते, परंतु पाँच आदमियोंको इकट्ठा करके उन पंचोंसे उसे

दण्ड दिलवाते हैं; कुछ लोग पुलिसमें डायरी लिखते या अदालतमें नालिश कर देते हैं। जो बहुत आगे बढ़े हुए लोग माने जाते हैं, वे यह सब कुछ भी न करके ऐसा कहते हैं कि 'भगवान् सब देखते ही हैं, वे न्याय करेंगे।' अर्थात् वे भगवान्‌के यहाँ फरियाद कर देते हैं। परंतु महात्मा पुरुष यह सब कुछ भी नहीं करते; वे अपनी ओरसे उसे दण्ड दिलवानेकी कोई भी चेष्टा नहीं करते। बल्कि उसका अपराध क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि 'भगवन्! यह बेचारा अज्ञानी है, तभी तो इसने बुरे परिणामका खयाल न करके अपराध किया है, आप इसे कृपापूर्वक क्षमा कर दें।' किसी भी वरदानकी आकाङ्क्षा-अभिलाषा मनमें न रखनेवाले भक्त प्रह्लाद अपने पिताकी बुराइयोंका तथा उसके परिणामका खयाल करके काँप जाते हैं और भगवान्‌से प्रार्थना कर बैठते हैं—

'महेश्वर! वर देनेवालोंके स्वामी! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ। मेरे पिताने आप सर्वशक्तिमान् चराचरगुरुको न पहचानकर आपकी बड़ी निन्दा की थी। आपका भक्त होनेके कारण मुझसे द्रोह किया था। दीनबन्धो! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, आप जल्दी नाश न होनेवाले इस दुस्तर दोषसे मेरे पिताजीको मुक्त कर दीजिये, उनको तार दीजिये।'

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

संनिपातका रोगी चाहे सो बकता है, वैद्यको गालियाँ देता है, कभी थप्पड़ भी मार देता है; पर इससे क्या बुद्धिमान् वैद्य उससे बदला लेता है? वह जानता है कि यह संनिपातमें है। दूसरा कोई मनुष्य यदि उस रोगीको मारना चाहता है तो वैद्य कह देता है कि 'भाई! यह तो संनिपातमें है, तुम तो नहीं हो, फिर तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?' इसी प्रकार महात्मा पुरुष मोहग्रस्त मनुष्यके प्रतिकूल आचरणसे उसपर

****

अप्रसन्न न होकर सदा क्षमा करते हैं।

महापुरुषोंके आचरण सदा अनुकरणके योग्य होते हैं। उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

महापुरुष स्वयं तीर्थरूप होते हैं। वे तीर्थोंको पवित्र तीर्थ बनानेके लिये ही वहाँ जाते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, उनके तीर्थत्व प्राप्त करनेमें भगवान् और महापुरुष ही प्रधान कारण हैं। जहाँ भगवान्ने अवतार लिया, वही स्थान पवित्र, पवित्रकारी तीर्थ बन गया, मुक्ति देनेवाला हो गया। श्रीवृन्दावन, अयोध्या, यमुना, सरयू आदि भगवान्के अवतरणके कारण ही महान् पवित्र तीर्थ हैं।

इसी प्रकार जहाँ महात्माओंने साधन-भजन किया, निवास किया—वही स्थान पवित्र तीर्थ बन गया। पतिव्रताशिरोमणि अनसूयाजीने जहाँ वास किया, उस स्थानका नाम 'अनसूयाश्रम' हो गया। पतिव्रता स्त्री महात्माओंके तुल्य ही होती हैं। अनसूयाजी उच्च-कोटिकी पतिव्रता थीं। जिनके यहाँ स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश अंशरूपसे अवतरित हुए थे।

श्रीभरतजी महाराज जब चित्रकूट गये थे, तब भगवान् श्रीरामका राजतिलक करनेके लिये बहुत-से तीर्थोंका जल साथ ले गये थे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका राजतिलक तो हुआ नहीं, अतः भगवान्की आज्ञासे उस जलको एक कुएँमें रखा गया। वह कुआँ आज भी 'भरतकूप' के नामसे प्रसिद्ध है। नैमिषारण्यमें हजारों ऋषि एकत्र होकर ज्ञानसत्र और भगवच्चर्चा करते थे, इसीसे वह नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है।

श्रीभगीरथजी बड़े उच्चकोटिके पुरुष थे और भगवान् शिव और विष्णुके परम भक्त थे। वे अपने पूर्वजोंको तारने तथा लोक-कल्‌ णके

लिये गङ्गाजीको लाये थे। उनकी लायी हुई गङ्गाजी जिस मार्गसे निकलीं, उस मार्गके सभी स्थान तीर्थ बन गये। श्रीगङ्गाजीके लानेमें भगीरथजीने बड़ा पुरुषार्थ किया था, इससे आज भी यदि कोई महान् पुरुषार्थ करता है तो उसके पुरुषार्थको 'भगीरथ-पुरुषार्थ' कहते हैं।

ऐसे पुरुषोंकी वाणी परम पवित्र, गम्भीर आशयवाली, रहस्यमयी, अर्थयुक्त, यथार्थ, सरल और कल्याणकारिणी होती है। इनका हृदय बड़ा ही विशाल, विशुद्ध, अचल और शान्तिमय होता है। उसमें अवगुणोंका सर्वथा अभाव होता है और अनन्त सद्गुणोंका सागर सदा-सर्वदा लहराता रहता है। उनके सङ्गसे सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ है।

जैसे कहीं एक ओर घासकी ढेरी है और दूसरी ओर आगकी ढेरी है। हवा चलती है और हवा चलकर घासको उड़ाकर आगमें डाल देती है तो वह घास आग ही बन जाता है और अग्निकी चिनगारियाँ उड़कर यदि घासमें पड़ती हैं तो भी उस घासकी आग बन जाती है। कभी ऐसा नहीं हो सकता कि आग घास बन जाय। इसी प्रकार महापुरुषोंके समीप आकर पापी धर्मात्मा बन जाते हैं, परंतु महापुरुष पापियोंके सङ्गसे पापी नहीं होते; क्योंकि उनमें ज्ञानाग्नि हर समय निवास करती है। उस ज्ञानाग्निकी चिनगारियोंसे पापरूपी घासका ढेर-का-ढेर भी हो तो वह भी भस्म हो जाता है। उनके हृदयमें जो ज्ञान है, वह वाणीके द्वारा विकसित होकर जब कानोंमें जाता है, तब अन्तःकरणमें घासके ढेरके समान जो पाप-पुञ्ज है, वह जलकर भस्म हो जाता है। उनकी उपदेशमयी वाणी ही ज्ञानाग्निकी चिनगारियाँ हैं।

इस संसारमें ऐसे-ऐसे महापुरुष हो गये हैं कि जिन्होंने अपने पुण्य-प्रभावसे लाखों-करोड़ों जीवोंका उद्धार कर दिया था। हमारी इस

पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामक एक राजा हुए हैं। वे बड़े ही भक्त, भक्तिप्रचारक और चक्रवर्ती राजा थे। सारी पृथ्वीपर उनका शासन था। अतः उनके आचरण और उपदेशके प्रभावसे सारी पृथ्वीके लोग भगवान्‌के परम भक्त बन गये और सभी भगवान्‌के परम धामको जाने लगे। यमराजका व्यापार तो बिलकुल बंद हो गया। यमलोकमें पहलेके जितने प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और नया प्राणी कोई गया नहीं। इस कारण यमलोक बिलकुल खाली हो गया। तब यमराजने ब्रह्माजीके पास जाकर स्थिति बतलाते हुए कहा कि 'पृथ्वीपर कीर्तिमान् नामका एक राजा है, वह सभीको परम धाममें भेज रहा है। मेरे लोकमें एक भी प्राणी अब नहीं आता। जो पहलेके थे, वे सब परम धाममें चले गये। अब मैं क्या करूँ ?' ब्रह्माजी धर्मराजको साथ लेकर विष्णुभगवान्‌के पास गये और उनको सारी स्थिति सुनायी। भगवान्‌ने कहा— 'इनका कहना ठीक है। इस समय इस पृथ्वीपर कीर्तिमान् राजा है और वह जबतक रहेगा तबतक एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं जायगा, सब मेरे लोकमें ही आयेंगे। वह कीर्तिमान् राजा अभी दो हजार वर्षतक और रहेगा। दो हजार वर्षके बाद जब दूसरा राजा होगा, तब फिर प्राणी यमलोकमें जाने लगेंगे।'

(स्कन्दपुराण, वैष्णव०, वैशाख मा० अध्याय ११—१३)

कितनी विचित्र बात है। हजारों वर्षोंकी आयु, समस्त पृथ्वीका शासन और ऐसा पुण्य-प्रभाव कि एक भी प्राणी यमलोकमें नहीं गया। इस कीर्तिमान् राजाको तो हम महापुरुषका महापुरुष भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

संसारमें महापुरुष हो और लोग उसकी आज्ञा मानें तो सहज ही एक महापुरुषके प्रभावसे ही मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है। एक

महापुरुषकी बात मानकर हजारों मनुष्य महापुरुष बन जायँ, फिर वे हजारों व्यक्ति भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करें; फिर उनसे उपदेश पाये हुए लाखों पुरुष भक्त बनें, तो यों होते-होते सारे संसारके मनुष्य भगवान्‌के भक्त बन सकते हैं और समस्त संसारका कल्याण हो सकता है।

परंतु आजतक संसारमें ऐसा पुरुष कोई नहीं हुआ कि जिससे प्राणिमात्रका उद्धार हुआ हो। प्राणिमात्रका उद्धार हो जाता तो उन लोगोंके साथ हमारा भी कल्याण हो गया होता। इसीसे यह सिद्ध है कि ऐसा कोई आजतक नहीं हुआ; परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि आगे ऐसा हो ही नहीं सकता, हो तो सकता ही है।

भगवान् उस पुरुषको इस प्रकारका अधिकार देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं, जो भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्य भक्त और परम श्रद्धालु हो, जो परम और विशुद्ध प्रेमी हो तथा सबका परम सुहृद् हो, जिस महापुरुषमें कामनाका लेश भी न हो, जिसने पहलेसे ही संसारके लोगोंके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण कर रखा हो एवं जो भगवान्‌से सब लोगोंके उद्धारका प्रार्थी हो। अबतक भगवान्‌के भेजे हुए जो पार्षद या अधिकारी पुरुष आये हैं, उन्होंने भी इस प्रकार सबका उद्धार नहीं किया। ऐसे महापुरुषका स्थान अभी खाली ही है। इस स्थानकी पूर्ति जिस दिन हो जायगी, उस दिन हम सबका कल्याण हो जायगा। इसपर एक कहानी है। पहलेसे लोकमें प्रचलित या नवीन कल्पनाप्रसूत कथाको 'कहानी' कहा करते हैं।

भगवान्‌के एक उच्चकोटिके भक्त थे। उन्होंने तन-मनसे भगवान्‌की आत्यन्तिक भक्ति की। भगवान्‌ने प्रकट होकर उनको दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी भक्तिसे मैं परम प्रसन्न हूँ, तुम्हारी इच्छा हो

सो वरदान माँग लो।'

भक्तने कहा—'जब आपने दर्शन दे दिये, तब इससे बढ़कर और क्या वरदान होगा।'

भगवान्‌ने कहा—'ठीक है, फिर भी मेरे संतोषके लिये तुम्हारी जो भी इच्छा हो, माँग लो।'

भक्तने कहा—'प्रभो ! जब आप इस प्रकार बार-बार कह रहे हैं, तब मैं यही वरदान माँगता हूँ कि प्राणिमात्रका कल्याण हो जाय, आप सब जीवोंका उद्धार कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'सब जीवोंका उद्धार कैसे हो सकता है ? उन सबके पाप कौन भोगेगा ?'

भक्तने कहा—'मैं भोगूँगा। आप सबके पाप मुझे भुगताते रहें और मैं भोगता रहूँ।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम मेरे अनन्य भक्त हो, विशुद्ध भक्त हो। तुमको मैं सारे प्राणियोंके पापोंका फलरूप दुःख कैसे भुगता सकता हूँ।'

भक्त बोला—'न भुगतायें तो भगवन् ! माफ कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह भी सम्भव नहीं।'

भक्तने कहा—'आपके लिये तो कुछ भी असम्भव नहीं है। आप जब चाहें, सबका उद्धार कर सकते हैं। आप साक्षात् परमात्मा हैं। सबके महान् ईश्वर हैं। आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। आप यदि कहें कि ऐसा हो ही नहीं सकता, तो फिर प्रभो ! आपको यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी कि तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो। आपको स्पष्ट यह कहना चाहिये था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, स्वर्ग, मुक्ति आदि जो भी इच्छा हो माँग लो।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई ! तुम्हारी विजय हुई, मैं हारा।'

भक्त बोला—'भगवन्! इस विजयमें मुझे क्या मिला ? इस विजयको आप अपने ही पास रखें ! मेरी तो विजय सबके कल्याणमें ही है।'

भगवान्‌ने कहा—'सबका कल्याण होना तो सम्भव नहीं, हाँ, एक बात है—मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन और नाम-जपसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। वही सामर्थ्य मैं तुमको देता हूँ। अब तुम्हारे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तनसे तथा तुम्हारा नाम लेनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जायगा।'

भक्त बोला—'प्रभो ! इतना ही सही ।'

इसके बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भक्तने भगवान्‌की यह बात स्वीकार कर ली। वह कहीं अड़ गया होता तो सभीका कल्याण हो सकता था।

इसलिये उचित है कि हमलोग ऐसे ही निष्कामी, त्यागी, उदारचित्त, दयालु, श्रद्धालु अनन्य प्रेमी भक्त बनें।



भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति

साधकके लिये आत्मोद्धारके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह है कि साधक चेष्टा करता हुआ, कर्म करता हुआ मुक्त हो जाय, जैसे जनकादि और निवृत्तिमार्गका अभिप्राय यह कि साधक कर्मोंका त्याग करके मुक्त हो, जैसे श्रीशुक-सनकादि। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल संन्यास-आश्रम ही निवृत्तिमार्ग है। संन्यास-आश्रम निवृत्तिमार्ग है, यह तो ठीक है ही; किंतु गृहस्थाश्रममें भी मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गोंके अनुसार चल सकता है। गृहस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गके अनुसार चलनेका अर्थ है—वानप्रस्थकी भाँति जंगलमें एकान्तमें गिरि-गुहाओंमें रहना तथा सांसारिक, सामाजिक, व्यावहारिक आदि कर्मोंसे उपरत होकर भगवान्‌का भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय करना और ज्ञान-वैराग्यमें मग्न होकर अपना समय बिताना। पर भोजन-वस्त्र आदि जीवन-निर्वाहके साधन अपने घरवालोंके सिवा दूसरोंसे ग्रहण न करना। यह निवृत्तिमार्गके तुल्य है। इस प्रकार निवृत्तिमार्गका पालन गृहस्थ भी कर सकता है; यह प्रवृत्तिमें ही निवृत्ति है।

किंतु यदि कोई संन्यासी होकर प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करता है तो वह निवृत्तिमें प्रवृत्ति है और वह पतन करनेवाली है। साधु-संन्यासी होकर कञ्चन-कामिनीके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना या स्त्रीसे शरीरकी सेवा कराना उसके लिये कलङ्क है; क्योंकि स्त्री और रुपयोंके संस्पर्शसे या इनमें प्रेम करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने ॥
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ।
हृदि सस्नेहभावेन चेद् द्रक्ष्येत् स्त्रियमेकदा ॥
कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः ।

(काशी० पूर्वार्ध० ४१ । २५—२७)

'संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ीभर भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है—यह सनातन श्रुति है। यदि एक बार भी वह हृदयमें स्नेहभावसे (आसक्तिपूर्वक) किसी स्त्रीको देख ले तो उसे दो करोड़ ब्रह्मकल्पोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।'

संन्यासीका धर्म बहुत ही कठिन है और साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवाना, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करना और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करना महान् अनुचित है।

गृहस्थाश्रममें मनुष्यकी अवस्था जब पचास वर्षसे अधिक हो जाय तो शास्त्र कहते हैं कि उसे गृहस्थाश्रमसे पृथक् हो वनमें जाकर वानप्रस्थाश्रमका सेवन करना चाहिये। स्त्रीकी इच्छा हो तो वह उसे भी अपने साथ रख सकता है, किंतु दम्पतिको सदा संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतसे रहना चाहिये, वनमें रहकर दोनोंको तपस्या करनी चाहिये एवं अपने कल्याणके लिये शास्त्रानुकूल साधन करना चाहिये। ग्रीष्मकालमें चार महीने पञ्चाग्नि तपना यानी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर अग्नि जलाकर, उसके बीचमें बैठकर सूर्यके तापका सेवन करना, वर्षाकालमें चार महीने आवरणरहित खुली जगहमें बैठकर वर्षाका सेवन करना, शीतकालमें चार महीने जलाशयमें गलेके नीचेतक जलमें

****

रहना या गीले वस्त्र धारण करना और रात्रिके समय स्त्री-पुरुष दोनोंका ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक अपने बीचमें किसी प्रकारका व्यवधान रखकर अलग-अलग भूमिपर सोना—इत्यादि ये वानप्रस्थ-आश्रमके धर्म बतलाये गये हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥

(६। २३-२४)

'अपने तपको क्रमसे बढ़ाता हुआ वानप्रस्थी ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्निमें तप करे, वर्षाऋतुमें आवरणरहित मैदानमें बैठा रहे और हेमन्त (जाड़ेकी) ऋतुमें गीले वस्त्र धारण करे। तीनों काल स्नान करके पितर और देवताओंका तर्पण करे तथा कठोर तपस्या करके अपने शरीरको सुखावे।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

(६। २६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका प्रयत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, भूमिपर सोये, निवासस्थानसे ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

उपर्युक्त वानप्रस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करना भी इस समय संन्यास-आश्रमकी तरह बहुत ही कठिन है। इसलिये आजकल इस कलिकालमें वानप्रस्थाश्रमको ग्रहण न करके गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही जो उपर्युक्त प्रकारसे निवृत्तकी-ज्यों रहता है और भगवान्‌की भक्ति

करता है तो उसका कल्याण हो सकता है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, इसी प्रकार गृहस्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल—सभी भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि— चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि भगवान्‌की भक्ति—शरणागतिमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय उत्तम वर्णोंके लिये तो और भी विशेषता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३)

'फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इन शब्दोंसे उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इससे यह बात भी सिद्ध हो गयी कि गृहस्थाश्रममें, प्रवृत्तिमार्गमें रहनेपर भी मनुष्यका भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे कल्याण हो सकता है। इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर कर्मयोगसे भी कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६।१)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।'

यदि कोई पूछे कि 'एक व्यापारी वैश्य अपनी दूकानका काम करता है तो उस भाईको किस प्रकार काम करना चाहिये ?' तो इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकारका व्यापार कर रहा है, उसमें परिवर्तनकी कोई जरूरत नहीं है। वह गल्ला-किराना, कपड़ा-सूत, चाँदी-सोना अथवा घी, तेल, चीनी आदि किसी भी वस्तुका व्यापार करता है, उसे ज्यों-का-त्यों करता रहे, उसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि वैश्यके लिये क्रय-विक्रय करना शास्त्रका विधान है, किंतु उसे वह व्यापार करना चाहिये—कर्तव्य समझकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए सत्यतापूर्वक निष्कामभावसे।

महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बतलाया है कि तुलाधार वैश्य मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओंको छोड़कर सब प्रकारके रस बेचा करता था, किंतु वह झूठ, कपट, विषमता और लोभको त्यागकर व्यापार करता था। उसके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

हमलोगोंके व्यवहारमें जो विषमता है, एकके साथ अच्छा और दूसरेके साथ बुरा व्यवहार है, वह न होकर सबके साथ समताका व्यवहार होना चाहिये और व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी,

दगाबाजी इत्यादिका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये। झूठ, कपट, बेईमानी तथा दगाबाजीके व्यापारसे मुक्ति तो दूर रही, उलटे नरकोंकी प्राप्ति होती है। व्यापारमें जो स्वार्थत्यागरूप निष्कामभाव है, वही आत्माका कल्याण करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण साधन है। निष्कामभावमें इतनी शक्ति हैं कि उसके प्रभावसे झूठ, कपट, बेईमानी आदि समस्त बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये। कर्मोंमें अभिमान, ममता, आसक्ति और फलकामना आदिका त्याग कर देना ही स्वार्थका त्याग कर देना है; यही निष्कामभाव (कर्मयोग) है और यह निष्कामभाव ही मुक्ति देनेवाला है। भगवान्‌ने कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

निष्कामभावके कई भेद हैं, उनमें 'भगवदर्थ कर्म करना' उच्च-कोटिका निष्कामभाव है। जैसे कोई व्यापारी—वैश्य है तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि 'मेरी दूकान भगवान्‌की है और मैं भी भगवान्‌का हूँ तथा ये सब वस्तुएँ भी भगवान्‌की हैं।' इस प्रकार सब वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर और स्वयं भगवान्‌का सेवक बनकर काम करे तथा सदा निश्चितरूपसे यही समझे कि 'मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, सेवा करनेके लिये मेरी यहाँ नियुक्ति हुई है। मुझे जो भोजन-वस्त्र मिलते हैं, बस, वही मेरा वेतन है। घरमें जितने व्यक्ति हैं, वे सब

भगवान्‌के हैं, उनकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा करना है।' दूकानके कामके रूपमें सेवा करते समय यह समझे कि 'भगवान्‌की दूकान प्राणिमात्रकी सेवाके लिये है; क्योंकि विश्वके सभी प्राणी भगवान्‌की प्रजा हैं या सभी उनकी संतान हैं।' इस प्रकार सबको भगवान्‌की प्रजा या संतान समझकर अपने व्यापारके द्वारा निःस्वार्थभावसे सबका हित और सबकी सेवा करनेसे भगवान् बड़े ही प्रसन्न होते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

इससे भी उच्चकोटिका एक साधन है और उसको निष्कामभावसे करनेपर और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। वह उच्चकोटिका साधन है—सबमें परमात्माको व्यापक समझकर उन सबकी सेवा करना। जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, इसी प्रकार परमात्मा समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। यों समझकर सबकी सेवाके रूपमें परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार सेवा करनेसे परम सिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

'सबमें भगवान् व्यापक हैं'— इससे भी ऊँचा भाव यह है कि 'सभी नारायणके स्वरूप हैं।' इस प्रकार सबको नारायण समझकर व्यापारके द्वारा सबकी सेवा करनेसे तो अत्यन्त शीघ्र आत्माकी शुद्धि

होकर परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

कोई भी व्यापारी हमारी दूकानपर आये तो 'स्वयं भगवान् ही आये हैं'—यों समझकर अपने व्यापारके द्वारा उनकी आदर-सत्कारपूर्वक सेवा करनी चाहिये। हम किसीसे कोई वस्तु खरीदें तो यह ध्यान रहना चाहिये कि हमारे द्वारा उसकी अवश्य ही कुछ सेवा हो और हम किसीको कोई वस्तु बेचें तो उस खरीददारके प्रति हमारा यह भाव रहना चाहिये कि भगवान् हमारे घरपर पधारे हैं, अतः उनकी सेवा करना हमारा परम धर्म है और उसे छल-कपटरहित होकर वस्तुकी असली स्वरूप-स्थिति बतानी चाहिये, जिससे वह ठगा न जाय और उचित मूल्यपर उसे वह वस्तु देनी चाहिये।

इसी प्रकार कोई भाई किसी ऐसी सार्वजनिक संस्थाका काम करते हों, जहाँ वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थ न होनेके कारण झूठ-कपट प्रायः नहीं है तो वहाँ उन कार्यकर्ता भाईको कार्यमें विशेष परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह कार्य स्वरूपसे ही जनताकी सेवाके लिये है और वहाँ स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका भी कोई कारण नहीं है, किंतु व्यक्तिगत स्वभावदोषके कारण यदि कहीं स्वार्थ, झूठ-कपट और विषमताका दोष आता हो तो उसका सुधार होना कठिन बात नहीं है, थोड़ी चेष्टा करनेपर ही सुधार हो सकता है। केवल बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि यह भगवान्‌का ही काम है। फिर अपने-आप ही दोषोंका अभाव हो सकता है। पर बात तो दूसरी है। हमलोग वाणीसे तो कहते हैं कि 'यह भगवान्‌का काम है', किंतु वास्तवमें यह बात अभी अच्छी तरहसे हमलोगोंकी समझमें आयी नहीं है। निश्चितरूपसे समझमें आयी होती तो हम चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला और प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझते और प्रत्येक कार्यमें

भगवान्‌की सेवाका अनुभव होते रहनेसे कार्य करते समय क्षण-क्षणमें हमारे चित्तमें अतिशय प्रसन्नता और शान्तिका सागर लहराता रहता है। सेवा करते समय यह भाव रहना चाहिये कि हम भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌की ही सामग्रियोंके द्वारा भगवान्‌की ही सेवा कर रहे हैं। सारे कार्य यदि ठीक-ठीक हो रहे हों तो उनमें बाहरी सुधारकी बहुत ही कम आवश्यकता रहती है। अधिक बिगड़ा हुआ कार्य हो तो उसमें अधिक सुधार करना पड़ता है और कम बिगड़ा हुआ हो तो थोड़े प्रयत्नसे ही उसका सुधार सम्भव है। जिस सार्वजनिक संस्थामें किसी प्रकारकी चोरी, बेईमानी नहीं की जाती, उसके कार्यके सुधारमें कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी यत्किञ्चित् कहीं शास्त्रके विरुद्ध क्रिया होती हो तो उसका शीघ्र सुधार कर लेना उचित है। असल बात तो यह है कि हम सबमें भगवद्बुद्धि करें; क्योंकि उच्चकोटिके महापुरुषोंकी स्थिति बतलाते हुए स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव सबको परमात्माका स्वरूप समझकर निःस्वार्थ भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सब कार्य करने चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला ही उनका सच्चा सेवक होता है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें [illegible]

स्वयं भगवान् रामने यह बात कही है—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही तो मेरा सेवक है, वही मेरा प्रियतम है जो मेरी आज्ञाका पालन करता है।'

गीतामें भी अर्जुनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(४।३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है तथा तुझको मैंने जो उपदेश दिया है, यह उत्तम रहस्यकी बात है।'

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना भक्त और सखा बतलाया; क्योंकि अर्जुनका दास्यभाव भी था और सख्यभाव भी। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि वही मेरा सच्चा भक्त, वही मेरा सखा और वही मेरा प्रेमी है, जो मेरी आज्ञाका पालन करता है। अर्जुन भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेवाला परम भक्त था, इसलिये गीताका उपदेश देकर भगवान्‌ने स्वयं १८ वें अध्यायमें अर्जुनसे पूछा कि 'अर्जुन! तेरे मोहका नाश हुआ या नहीं, मैंने तुझसे जो कुछ कहा, उसको तूने ध्यान देकर सुना या नहीं?' अर्जुनने उत्तरमें कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(१८।७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

अर्जुन भगवान्‌के उच्चकोटिके भक्त थे, अतएव भगवान्‌ने

अर्जुनको निमित्त बनाकर ही संसारके [illegible] किया और अर्जुनने भी भगवान्‌की आज्ञाके [illegible] बिताया । अतः अर्जुनको आदर्श [illegible] आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि कहें कि [illegible] साक्षात् प्रकट थे, इसलिये उनकी आज्ञा [illegible] तो वे प्रकट नहीं हैं, इसलिये हम भगवान्‌की [illegible] करें।' तो यह बात अपने भावके ऊपर निर्भर [illegible] गीताको ही भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी [illegible] है, भगवान् उसके हृदयमें प्रेरणा करते रहते हैं। [illegible] भगवान्‌से पूछना चाहिये कि 'प्रभो ! इसमें आपकी [illegible] तो सबके हृदयमें स्थित हुए भगवान् हमारे हृदयमें [illegible] सकते हैं कि हमारी यह सम्मति है।

भगवान् तीन प्रकारसे अपनी आज्ञाका प्रयोग करते हैं— (१) महात्मा पुरुषोंके द्वारा, (२) सत्-शास्त्रोंके द्वारा और (३) साधकके शुद्ध अन्तःकरणके द्वारा। इसलिये महात्मा पुरुषोंकी [illegible] अनुसार चलना ही भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना है; क्योंकि [illegible] भगवान्‌ने गीताके सातवें अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहा है कि [illegible] तो मेरा स्वरूप ही है **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** अतः [illegible] कोई कठिनाई नहीं है। यद्यपि संसारमें ऐसे महापुरुषोंका मिलना [illegible] है; क्योंकि लाखों-करोड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा महापुरुष होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इसलिये हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि जिस पुरुषके द्वारा हमको सत्-शिक्षा मिले, जिस पुरुषकी बात सुनकर हममें दैवी सम्पदाके लक्षण आयें तथा भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये वही महात्मा है । यदि एक मनुष्य साधक है, पर उसमें उत्तम-उत्तम गुण-आचरण विद्यमान हैं, वह दैवी सम्पदासम्पन्न है और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें संलग्न है तथा साधकोंमें श्रेष्ठ है, तो हम उसको भी महात्मा समझकर उसकी आज्ञाका पालन करें तो उसमें हमारा लाभ ही है। ऐसा साधक महात्माके तुल्य ही है; क्योंकि गीतामें नवम अध्यायके १३ वें श्लोकमें साधकको भी गौणीवृत्तिसे महात्मा ही बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतः हमारे लिये कोई कठिनता नहीं है। संसारमें वास्तविक महात्माओंका अभाव नहीं है। जो सच्चे हृदयसे महात्माको चाहता है, उसे भगवत्कृपासे महात्मा मिल जाते हैं। हमारे हृदयमें श्रद्धा होनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि शास्त्रोंके वचन भगवान्‌के ही वचन हैं। इसलिये शास्त्रकी आज्ञा भगवान्‌की ही आज्ञा माननी चाहिये। गीता,

रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि जितने भी शास्त्रग्रन्थ हैं, वे वास्तवमें भगवान्‌की आज्ञा है और गीता तो साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं ही। वेद ब्रह्माजीके द्वारा प्रकट हुए हैं, पर वास्तवमें वह भगवान्‌की ही आज्ञा है और ऋषि-मुनियोंने जो कुछ कहा है, सब वेदोंके अनुसार ही कहा है; इसलिये उनके वचन भी भगवान्‌के ही वचन हैं।

तीसरी बात यह है कि हमें यदि यह विश्वास हो कि भगवान् सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान हो रहे हैं, तो प्रत्येक कार्यके लिये हम उनसे पूछ सकते हैं और वे हमको अन्तःकरणके द्वारा समुचित सम्मति या आदेश दे सकते हैं। [illegible] अन्तःकरणके द्वारा भगवान्‌की आज्ञा सुननेमें मिल सकती है।

वस्तुतः हमलोगोंको भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये। [illegible] अर्जुनको उपदेश दिया, उस समय भगवान् थे और अब नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो सदा-सर्वदा ही सर्वत्र विराजमान हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों और ऐसा कोई समय नहीं, जिसमें भगवान् न हों। भगवान् सब देशमें, सब कालमें और सब वस्तुओंमें सदा ही विराजमान होकर रहते हैं। जिसका ऐसा विश्वास और श्रद्धा है, उसके लिये भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह उपस्थित हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर हमको भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये। निःस्वार्थ भावसे संसारभरकी सेवा करना ही भगवान्‌की मुख्य आज्ञा है; क्योंकि चर और अचररूप सारा संसार भगवत्स्वरूप ही है। [illegible] है, भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु नहीं है। [illegible] संसारके रचनेवाले हैं; इसलिये भगवान् ही इसके उपादान और निमित्त कारण हैं। अतएव यह संसार भगवत्स्वरूप है [illegible]

प्रकार समझकर जो संसारकी सेवा करता है, वह भगवान्‌की ही सेवा करता है। जिसका उपर्युक्त प्रकारसे सबमें भगवद्भाव हो जाता है, उसके लिये सबकी सेवारूप साधन बहुत ही सुगम है। अतः निष्कामभावसे सबकी सेवा करके मनुष्यजन्मको सफल बनाना चाहिये।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी ही दया है, जो हमें इस समय सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर मिलना दुर्लभ है, मनुष्यका शरीर मिल जाय तो मुक्तिके केन्द्र भारतवर्षमें जन्म होना कठिन है, भारतवर्षमें जन्म होनेपर भी वैदिक सनातन-धर्ममें निष्ठा होनी बहुत ही दुर्लभ है और यदि सनातनधर्ममें निष्ठा हो गयी तो शास्त्रोंका ज्ञान होना कठिन है एवं शास्त्रोंका कुछ ज्ञान हो जानेपर भी महात्मा पुरुषोंका सङ्ग मिलना बहुत ही दुर्लभ है। ये सारी बातें मिलकर भी यदि हम साधन न करनेके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे समान संसारमें और कौन मूर्ख होगा। ये सब बातें ध्यानमें रखकर जल्दी-से-जल्दी मनुष्यजीवनको सफल बनाना चाहिये; क्योंकि शरीरका क्षणभरका भी भरोसा नहीं है। आज यदि मृत्यु आकर प्राप्त हो जाय तो हमें आज ही मरना पड़ेगा। एक क्षणका भी समय किसी हालतमें भी नहीं बढ़ सकता। ऐसी परिस्थितिमें हमको धोखेमें नहीं रहना चाहिये। समयको अमूल्य समझकर हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यही गीताका सिद्धान्त है। गीताके आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

****

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने कहा कि 'तू सब समयमें मुझे स्मरण रखता हुआ युद्ध कर।' इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्य और शूद्रके लिये सेवा करना बताया है और कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा जो मेरी सेवा करता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस भावको ध्यानमें रखकर हमलोगोंको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निष्कामभावसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

उपर्युक्त श्लोकमें जो भगवान्‌ने यह कहा है कि 'मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इसका यह अभिप्राय है कि 'परमात्मा है'—इस भावका बुद्धिमें हर समय निश्चय रखना—यह बुद्धिका परमात्मामें समर्पण है; और बुद्धिके निश्चयके अनुसार ही परमात्माका हर समय मनसे चिन्तन करना—यह मनको परमात्माके अर्पण करना है। ऐसा करनेसे निःसंदेह परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा'—इस कथनका यह अभिप्राय है कि यहाँ इस शङ्काकी गुंजाइश थी कि 'सब काम-धंधोंको छोड़कर और एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करनेसे मुक्ति हो जाती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है; किंतु सदा काम करते हुए मुक्ति कैसे हो सकती है ?' इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌ने यह कहा कि युद्धादि कर्म करते हुए भी मन-बुद्धि मुझमें समर्पित रहनेसे निःसंदेह मेरी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये १८ वें अध्यायके ५६वें श्लोकमें भी भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर सदा-सर्वदा कर्म करनेका अभिप्राय यह है कि कार्य करते हुए मनमें सदा यह भाव रहे—'मैं जो काम करता हूँ वह भगवान्‌का क़ाम है। मैं जो सेवा करता हूँ, भगवान्‌की सेवा करता हूँ। पदार्थमात्र सब भगवान्‌के स्वरूप हैं और उन सबकी जो चेष्टा हो रही है, वह सब भगवान्‌की लीला है। मैं भगवान्‌का सेवक हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं। उन स्वामीकी मैं इस रूपमें सेवा कर रहा हूँ। भगवान्‌की मुझपर बड़ी दया है, जो मुझे इस कामके लिये निमित्त बनाकर मुझसे सेवा ले रहे हैं।' इस प्रकार सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करनी चाहिये। ऐसी सेवा हमारे द्वारा हो रही है या नहीं, इसके जाँचनेकी कसौटी यह है कि जब इस प्रकार निष्कामभावसे सबकी सेवा होने लगेगी, तब हमारे चित्तमें राग, द्वेष, हर्ष, शोक, स्वार्थ और अभिमान आदि विकार नहीं होंगे।

जैसे कोई मुनीम किसी मालिकके यहाँ काम करता है और उस मालिकके मुनाफा या नुकसान होता है तो वह उस मालिकका ही है, मुनीमका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो एक निमित्तमात्र है; इसी प्रकार हम अपनेको निमित्तमात्र समझें और मुनाफा या नुकसान भगवान्‌का समझें तो फिर न तो किसीमें आसक्ति होगी और न किसीमें द्वेष होगा। भगवान्‌का सेवक बनकर जो काम किया जाता है, वह बहुत उच्चकोटिका काम होता है। जबतक मनुष्य किसी कामको व्यक्तिगत निजी काम समझकर करता है, तभीतक उसमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं। भगवान्‌का काम समझकर करनेपर ये विकार नहीं होते और इस प्रकार करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

***

अतः काम चाहे अपना व्यक्तिगत हो या किसी संस्थाका, उसे भगवान्‌का समझकर करना चाहिये। किसी संस्थामें चाहे वेतन लेकर काम करते हों या बिना वेतन लिये, नीयत शुद्ध होनी चाहिये; फिर दोनोंके लिये सिद्धान्तसे कोई भेद नहीं है। वास्तवमें यदि किसीके पास धन-सम्पत्ति न हो तो उस स्थितिमें वह संस्थामें काम करके प्रसादके रूपमें शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कुछ लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं है; बल्कि वह उसके लिये गौरवकी बात है। क्योंकि वास्तवमें जगत्‌में जो कुछ है, वह सब भगवान्‌का ही है। हम कहीं रोटी खाते हैं, उसे भगवान्‌का प्रसाद मान लें तो वह भी भगवान्‌का ही प्रसाद है। हम उसे प्रसाद न मानें तो नहीं है।

इसलिये हमको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो कुछ है, सब परमात्माका ही है तथा मैं भी परमात्माका हूँ एवं सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्माका स्वरूप है। इस प्रकार समझकर हँसते-हँसते सबकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके कालमें समय-समयपर हमारे हृदयमें हर्षातिरेकसे रोमाञ्च होना चाहिये, प्रफुल्लता होनी चाहिये, अश्रुपात होना चाहिये।

थोड़ी देरके लिये मान लें कि वास्तवमें साक्षात् ही भगवान् यहाँ आ जायँ और उनकी सेवाका कार्य हमें प्राप्त हो जाय तो उस सेवा करनेके समय हमारे चित्तमें कितनी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होता है। इसी प्रकारकी प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द हमको उस समय मिल सकता है, जब हमारी वास्तवमें यह श्रद्धा हो जाय कि सब परमात्माका स्वरूप है और हम परमात्माकी ही सेवा कर रहे हैं।

जब हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि जो कुछ है, वह परमात्माका ही स्वरूप है, तब उस परमात्माकी निष्काम सेवा करनेपर परमात्माकी दयासे हमें परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह बड़ा ही उच्चकोटिका साधन है। हमें इस साधनको करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होनी चाहिये, मुग्ध हो जाना चाहिये, चित्तमें अतिशय उल्लास और आमोद-प्रमोद होना चाहिये।

इस प्रकार मनुष्य प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी उपर्युक्त भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगके साधनके द्वारा सुगमतापूर्वक ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है।



आत्मोन्नतिमें सहायक बातें

शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंके सुधारकी अपेक्षा मनके सुधारपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि मनके भाव ही क्रियारूपमें परिणत होते हैं, अतः मनके सुधारसे शरीर और इन्द्रियोंका सुधार स्वतः ही हो जाता है। यदि शरीर और इन्द्रियोंके साथ मन नहीं है तो उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओंका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी मन क्रिया करता रहता है। उसका एक क्षण भी क्रियारहित रहना कठिन है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।५)

'निस्संदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

श्रीभगवान्‌के ये वचन प्रधानतया मनकी क्रियाको लक्ष्य रखकर ही हैं; क्योंकि शरीर और इन्द्रियोंकी क्रिया निरन्तर चालू नहीं देखी जाती। अतः मनकी क्रियाओंके सुधारका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। मनके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनको हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपरति, सद्गुण और सदाचारविषयक मनन स्वाभाविक ही होना एवं प्रयत्नसे करना। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदिका

अथवा नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष ब्रह्मका अभेदरूपसे मनन और निदिध्यासन करना, संसारके भोगोंको दुःखरूप, क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझना तथा अन्तःकरणमें क्षमा, दया, समता, शान्ति आदि उत्तम गुणोंका भाव होना एवं यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, संयम, परोपकार, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि उत्तम आचरणोंको निष्कामभावपूर्वक करने एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, व्यर्थ चेष्टा और भोगोंके त्याग करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—ये सब तो मनकी आत्मकल्याणके लिये होनेवाली अध्यात्म (परमार्थ) विषयकी क्रियाएँ हैं।

(२) स्वाद-शौक, ऐश-आराम, कञ्चन-कामिनी, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके विषयभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना—यह मनकी स्वार्थ-विषयकी क्रियाएँ हैं।

(३) मनमें किसी भी नगर, मकान, वन, पहाड़, नदी, तालाब, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो व्यर्थ स्फुरणाएँ होने लगती हैं, जिनसे अपना कोई सम्बन्ध या प्रयोजन नहीं है तथा जिनसे न परमार्थ सिद्ध होता है और न स्वार्थ ही एवं जिनमें न पुण्य है और न पाप—ये सब मनकी व्यर्थ स्फुरणाएँ हैं। प्रायः अधिकांश मनुष्योंके ऐसी ही स्फुरणाएँ हुआ करती हैं।

(४) काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, नास्तिकता आदि भावोंकी, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म करनेकी तथा कर्तव्य कर्मोंको न करनारूप प्रमाद आदिकी स्वतः ही इच्छा, स्फुरणा और संकल्प होना अथवा जान-बूझकर करना—ये सब मनकी पापमयी क्रियाएँ हैं।

****

इन चारोंमेंसे पहली परमार्थविषयकी क्रियाएँ सात्त्विकी, दूसरी स्वार्थविषयकी क्रियाएँ राजसी और तीसरी व्यर्थ क्रियाएँ तथा चौथी पापमयी क्रियाएँ तामसी हैं। इनमें सात्त्विकी क्रियाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। अधिकांशमें राजसी-तामसी ही होती हैं। सात्त्विकी क्रियाओंमें भी श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक नित्य-निरन्तर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना ही सर्वोपरि है। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि मनसे राजसी और तामसी इच्छा, स्फुरणा और संकल्पोंका सर्वथा त्याग करके केवल अध्यात्मविषयकी सात्त्विकी उत्तमोत्तम क्रियाओंके लिये ही जी-तोड़ प्रयत्न करे।

× × ×

समय बहुत कम है। भगवान्पर निर्भर होकर जोरके साथ चलना चाहिये। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय भी और नहीं मिल सकता। इसलिये सारा समय भगवान्की प्राप्तिके उपायमें ही लगाना चाहिये।

× × ×

समय बहुत कम रह गया है—ऐसा समझकर घबराये नहीं कि अब कल्याण कैसे होगा। अबसे लेकर मरणपर्यन्त जो भी समय है, उसमें भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। हर समय भगवान्को पकड़े रखना चाहिये। भगवान्को निरन्तर याद रखना ही उनको पकड़े रखना है। भगवान्को पकड़े रहोगे तो फिर तुम्हारे कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं, जो तुम्हें नरकमें ले जा सके।

× × ×

परमात्माने हमको बुद्धि-विवेक दिया है, उसे काममें लाना चाहिये। वही मनुष्य बुद्धिमान् है, जो अपने समयका एक क्षण भी

****

व्यर्थ नहीं बिताता और सारा समय अच्छे-से-अच्छे काममें लगाता है।

× × ×

चाहे कोई कैसा भी पापी-से-पापी भी क्यों न हो, उसका भी कल्याण हो सकता है। केवल शर्त यही है कि अबसे लेकर मृत्युपर्यन्त भगवान्‌को भूले ही नहीं। भगवान्‌को हर समय याद रखना ही सबसें बढ़कर उपाय है।

× × ×

हमको यह मनुष्य-जन्म मिला है—आत्माके कल्याणके लिये। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके कार्यको छोड़कर संसारके फंदेमें फँस रहा है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ?

× × ×

एकान्तमें बैठकर नित्य यह विचार करे कि ईश्वर क्या है ? मैं कौन हूँ ? मैं कहाँसे आया हूँ ? मैं क्या कर रहा हूँ ? मुझे क्या करना चाहिये ? इस प्रकार विचारकर दिन-पर-दिन अपनी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये।

× × ×

मनुष्य-शरीर पाकर यदि परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई, उनका तत्त्वज्ञान नहीं हुआ तो यह जन्म ही व्यर्थ गया। मानवजन्मका समय बहुत ही दामी है, इसको सोच-सोचकर बिताना चाहिये।

× × ×

भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें उत्तम-से-उत्तम साधन है—भगवान्‌को हर समय याद रखना। इसके समान और कोई साधन है ही नहीं। चाहे कोई उत्तम-से-उत्तम भी कर्म हो, पर वह भगवत्स्मृतिके समान नहीं है। चाहे भक्तिका मार्ग हो, चाहे ज्ञानका,

चाहे योगका। सभी मार्गोंमें भगवान्‌की स्मृतिकी ही परम आवश्यकता है।

× × ×

भगवान्‌से मन हट जाय तो उस समय ऐसी तड़पन होनी चाहिये, जैसे कि जलके विना मछली तड़पने लगती है।

× × × ×

भगवान्‌के मिलनेमें देरी हो रही है। इसमें भगवान्‌की त्रुटि नहीं है, हमारी ही कमी है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रभुकी सदा वर्तमान अपार अनन्त दयाको समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। अथवा एकान्तमें बैठकर भगवान्‌की विरह-व्याकुलतामें छटपटाकर भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌के नामका जप, रूपका स्मरण और गुणोंका मनन करनेसे, सत्सङ्ग करनेसे तथा गद्‌गद होकर करुणाभावसे भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

× × ×

संसाररूपी सागरमें भगवान्‌के चरण ही सुदृढ़ नौका है, उसे मज़बूतीसे पकड़ लेना चाहिये। भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही मजबूतीसे चरणरूपी नौका पकड़ना है।

× × ×

यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान् हैं, मिलते हैं, बहुतोंको मिले हैं और मुझे भी मिल सकते हैं।

× × ×

श्रद्धा करने योग्य चार पदार्थ हैं— १-भगवान्, २-महात्मा, ३-शास्त्र, ४-परलोक। किंतु अनन्य प्रेम करनेयोग्य एक भगवान् ही हैं।

× × ×

जप, ध्यान, पूजा तो परमेश्वरकी ही करनी चाहिये। आज्ञापालन, भावोंके अनुकूल बनना और आचरणोंका अनुकरण करना— ये तीन महात्माओंका भी किया जा सकता है।

× × ×

महात्माके दर्शनसे ऐसा आनन्द होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरके दर्शनसे हो। महात्माकी आज्ञा पालनेमें ऐसा उत्साह होना चाहिये, जैसा कि परमेश्वरकी आज्ञा पालनेमें हो।

× × ×

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबके साथ निःस्वार्थ प्रेम करे। स्वार्थ छोड़कर प्रेम करनेवालेका दर्जा भगवान्‌के बराबर है; क्योंकि हेतुरहित प्रेम करनेवाले या तो भगवान् हैं या उनका कोई प्रेमी भक्त।

× × ×

स्वार्थ छोड़कर दूसरेका हित करनेसे आत्मा शुद्ध हो जाता है।

× × ×

कामदोषसे जो बच जाता है, उसको मैं शूरवीर समझता हूँ। कामदोषसे तंग होकर ही सूरदासजीने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इसलिये पुरुषको स्त्रियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। किसी समय आदतके कारण दीख जाय तो उसे पाप समझकर उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और आगेके लिये दृष्टि न जाय— इसकी पूरी सावधानी रखनी चाहिये एवं उस स्त्रीको माता-बहिनके समान समझना चाहिये।

× × ×

****

बहुत-से भाई अपनेको भक्त मानते हैं, लेकिन जबतक भगवान्‌की मुहर (छाप) नहीं लग जाती, तबतक कोई भी भक्त नहीं हो सकता। भगवान्‌की मुहर क्या है? भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे १९वेंतक जो भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं, वही भगवान्‌की मुहर है।

× × ×

जैसे हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, वैसे ही बुद्धिपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये। बुद्धिके ऊपर श्रीहरिका चश्मा चढ़ा लेनेपर सारा संसार श्रीहरिके रूपमें ही दिखायी देने लगता है।

× × ×

जहाँ हमारा मन जाय, जहाँ हमारी दृष्टि जाय, वहीं भगवान्‌के स्वरूपका भाव करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ वस्तुमात्र है, वह भगवान्‌का रूप है और जो कुछ चेष्टामात्र (हलचल) है, वह भगवान्‌की लीला है अर्थात् एक भगवान् ही अनेक रूप धारण करके भाँति-भाँतिकी लीला कर रहे हैं। ऐसा समझकर हर समय भगवान्‌की ही स्मृतिमें मस्त रहे।

× × ×

एक बात बड़े महत्त्वकी है। संसारका व्यर्थ चिन्तन सर्वथा हटा देना चाहिये। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। एक भगवान्‌के सिवा किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। एक भगवान्-ही-भगवान् है—ऐसी वृत्ति बनानी चाहिये।

× × ×

आप एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान-साधन करते हैं—उसमें आपका मन नहीं लगता, इसका कारण है—आपकी बुरी आदत। आपको चाहिये कि जहाँ मन जाय, वहींसे जबरन् उसे हटाकर परमात्मामें

लगावें। इस प्रकारकी साधारण चालसे जो सैकड़ों वर्षोंमें लाभ होता है, वह उक्त प्रकारसे जी-तोड़ परिश्रम करनेपर बहुत थोड़े समयमें ही हो सकता है।

× × ×

अभ्यासके साथ वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्य होनेसे ही मन वशमें हो सकता है। वैराग्य होता है— वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करनेसे। जैसे चोरका सङ्ग करनेसे चोरीके भाव आते हैं और व्यभिचारीके सङ्गसे व्यभिचारके भाव आते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैराग्य अपने-आप होने लगता है।

× × ×

वैराग्यमें ही आनन्द है, वैराग्यके सामने त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ है। वैराग्यसे भी अधिक आनन्द है उपरतिमें और उपरतिसे भी अधिक आनन्द है परमात्माके ध्यानमें। संसारमें प्रीति न होना वैराग्य है और संसारकी ओर वृत्ति ही न जाना उपरति है।

× × ×

भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मन न लगे, तब भी हठपूर्वक भजन-ध्यान करते रहना चाहिये। आगे जाकर आप ही मन लग सकता है।

× × ×

भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभो! अपना नित्य सुख थोड़ा-सा भी दे दीजिये, किंतु यह संसारका लम्बा-चौड़ा सुख भी किसी कामका नहीं।

× × ×

मनुष्यको अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें भगवान्‌का भजन-ध्यान भरना चाहिये। जो मनुष्य भगवान्‌का भजन-ध्यान करता है, उसको स्वयं भगवान् मदद देते हैं। इसलिये निराश नहीं होना चाहिये; बल्कि यह

****

विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ है, अतः हमारी विजयमें कोई शङ्का नहीं; ईश्वर और महात्माकी कृपाके बलपर ऐसा कोई भी काम नहीं, जो हम न कर सकें। हमें बड़ा अच्छा मौका मिला है। इसे पाकर अपना काम बना ही लेना चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये।

× × ×

संसारमें लोग अपनी निन्दा करें, अपमान करें तो उससे अपनेको खुश होना चाहिये और यदि लोग अपनी प्रशंसा करें, सम्मान करें, तो उससे लज्जित होना चाहिये।

× × ×

कुसङ्ग कभी न करे। मनुष्य सत्सङ्गसे तर जाता है और कुसङ्गसे डूबता है।

× × ×

सत्सङ्गमें सुनी हुई बातोंको एकान्तमे बैठकर मनन करे और उनको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करे।

× × ×

पाप, भोग, आलस्य और प्रमाद— ये चार नरकमें ले जानेवाले हैं। इनका सर्वथा त्याग करे।

× × ×

यह निश्चय कर ले कि प्राण भले ही चले जायँ पर पाप तो कभी करना ही नहीं है। भारी-से-भारी आपत्ति आ जाय, तब भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और सदा ईश्वरको याद रखना चाहिये।

× × ×

मनुष्य जो चिन्ता, भय, शोकसे व्याकुल होता है, इसमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। सिवा मूर्खताके इनके होनेका कोई अन्य कारण नहीं। मनुष्य थोड़ा-सा विचार करके इस मूर्खताको हटा दे तो ये सरलतासे मिट सकते हैं।

× × ×

संसारके विषयोंको विषके समान समझकर इनका त्याग करना चाहिये; क्योंकि विषसे तो मनुष्य एक जन्ममें ही मरता है, किंतु विषयोंके सुखोपभोगसे तो मरनेका ताँता ही लग जाता है।

× × ×

हरेक काममें स्वार्थ, आराम और अहंकारको दूर रखकर व्यवहार करना चाहिये; फिर आपका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है।

×

किसी व्यक्तिने अपनी सेवा स्वीकार कर ली तो उनकी अपनेपर बड़ी दया माननी चाहिये।

× × ×

किसी कार्यमें मान-बड़ाई हो, वहाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा दूसरोंको देना चाहिये तथा स्वयं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे हट जाना चाहिये।

× × ×

असली बात तो यह है कि एक मिनट भी जो भगवान्‌को भूलना है, यह बड़ी भारी खतरेकी चीज है; क्योंकि जिस क्षण भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है, उस क्षण यदि हमारे प्राण चले जायँ तो हमारे लिये बहुत खतरा है; इसलिये बचे हुए जीवनका एक भी क्षण भगवान्‌की स्मृतिके बिना नहीं जाना चाहिये। यदि आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए प्राण निकल गये तो क्या उपाय है, तो इसके लिये आप चिन्ता न करें। जब आपके जाग्रत् अवस्थामें १८ घंटे निरन्तर भजन होने लगेगा तो उसके बलसे रात्रिमें सोते हुए स्वप्नमें भी आपके प्रायः भजन ही होना सम्भव है।



जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं, किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं, किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो, यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है ? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है, उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उलटी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है ? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीताके साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और हम जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहें। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई हानि हो, ऐसी बात तो है ही नहीं और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे हानि हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है ? बात यह है कि हमारा साधन उच्च कोटिका नहीं

है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको आदरपूर्वक और ध्यान देकर निष्कामभावसे अच्छी प्रकार करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा ? आदरका क्या अर्थ है ? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रखेंगे यानी जैसे सिखलोग ग्रन्थसाहबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मानपूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया, वह कौनसे अध्यायके कौनसे श्लोक थे—यह याद रखें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं कि किस अध्यायका पाठ किया, तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष क्या लाभ होगा। आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी, फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे, ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे, तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा ?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे ?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था ?' कहा— 'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं फिर याद कैसे नहीं है ?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे ?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी ! लोगोंने तो अच्छा बतलाया पर आप भी तो थे न ?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ ?' बोले—'सुना तो था, किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही, तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया, आप माला फेर रहे हैं, माला हाथसे गिर गयी। कितनी माला फेरी, यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरेद्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा,

इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि तथा (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह 'निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें

जीवनमें धारण हुईं। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आयेंगे, तब उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकारका नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार समझकर हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। वह लोभी आदमी प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करता रहता है। इसी तरह हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि 'कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई, उसका कारण ढूँढ़ना और उसे सावधानीसे दूर करना चाहिये।' इस प्रकार प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं? यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो हमें संसारसे निकालकर वे हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है, तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात

हीं क्या है। इस प्रकार समझकर और ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है तथा अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी हर समय प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्‌की अहैतुकी दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्‌की दया ओत-प्रोत है। यदि किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्‌की दया नहीं है—कोप है, तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्‌का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि सम्पत्तिका स्वामी वह लड़का परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि

मुझपर पिताकी कितनी दया है कि उन्होंने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी पाँच लाखकी सम्पत्तिका स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये— किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत ही हानिकी बात हुई। यह हमारी हानि परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो यह चोट लगी तथा धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है। तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

यदि कहें कि रुपये मिले तो प्रसन्नता होती है पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्‌की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परंतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है ? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया, तब उस पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायँगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार

करते हैं; तथा धनकी वृद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी तथा हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। भगवदर्थ लगाकर धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और कुकर्ममें लगाकर पतन भी।

इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हलके हो गये और उस दण्ड मिलनेके साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था, उसका भगवान्‌ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा। जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा। पापका फल ही तो दुःख है न।' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली। धन मिलनेसे तो अहंकार, पाप, प्रमाद, अकर्मण्यता और भोग-विलास आदि बढ़ते हैं, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं। इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये। अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो। अतः वह भगवान्‌की इच्छा है। इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है। बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती; फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे। इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान जल गया, पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो यह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है। यह पापका फल है। इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है। ईश्वरकी इच्छासे

****

अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया। सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, उनको देखिये। हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान भी। मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका। परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा—इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे प्रारब्ध कर्मोंका भोग होता है। स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता। हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे। इसलिये हमें झूठ-कपट-चोरी आदि पाप कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा। अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये। जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता। रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता। आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है। किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं। यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने-आपको धोखा देते हैं। अर्थात् जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये। नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं। एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे

कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें। आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु वे रुपये आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिये तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया। साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया, तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया। क्यों अनुचित किया ? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये, तब तो बड़ा भारी अन्याय किया। इसी प्रकार भगवान्ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये; उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश-आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं। देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ, होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं, तो हम चोर हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—'**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥**' (३। १२)—'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है, उसे उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता। यह माता-पिताकी चोरी है। उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी है। वे तो लाचार हैं, अब कर ही क्या सकते हैं ? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो, करो; किंतु उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है। कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है। इसी प्रकार

****

माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तथा देवताओंको उनका हक नहीं देते तो हम विश्वासघात करते हैं।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्‌के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्‌के लिये भगवान्‌की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्‌के चोर हैं। हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्‌के विधानके अनुसार जो कुछ सुख-दुःख, लाभ-हानि आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वह भगवान्‌के हाथकी मार है। इसमें भगवान्‌की विशेष दया भरी हुई है। यह रहस्य हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है, किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या

कर सकता है, वह बिलकुल माँपर निर्भर है, माँ मारे, चाहे पुचकारे; इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, तब परमदयालु भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तब माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमारे हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ होता है अर्थात् उससे निश्चय ही सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीख सकती है और उससे उत्साह बढ़ सकता है। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों, आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य नयी-नयी प्रसन्नता होती है, दिनों-दिन उत्साह बढ़ता जाता है; इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-

****

प्रति-दिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रति-दिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्यों हो ? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है, तब फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये। वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपको प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी दे सकता है।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है, मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्यायकारी तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है ? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा— 'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके भोग-पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रखें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है, तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!'

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, तब फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्‌की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है, उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं देती; वैसे ही हम भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये, जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्‌पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी

****

अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्‌पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका? नहीं कर सका। कहा भी है—

जाको राखे साँइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

मनुष्यकी तो बात ही क्या, सारा संसार भी उसका वैरी हो जाय तब भी कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः यह समझना चाहिये कि जब हम भगवान्‌पर निर्भर हैं, तब हमें भय किस बातका है। अतएव हमें भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मैं आपको फिर सावधान करके यह कहना चाहता हूँ। जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायके समय एक तो यह निश्चय रखना चाहिये कि इनसे हमें अवश्य लाभ होगा तथा उसकी ओर हर समय देखते रहना चाहिये कि हमें लाभ हो रहा है न। लाभको बराबर होते हुए देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इससे सद्गुण-सदाचार आनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचार भाग जाते हैं न। साथ ही ईश्वरकी दया, ईश्वरका प्रेम, ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा ईश्वरके स्वरूपको देख-देखकर और ईश्वरकी दया और प्रेमको देख-देखकर हर समय हँसते रहना चाहिये, प्रमुदित होते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे आपको प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है। यह आप करके देख लें, यह आजमाइश की हुई बात है।

इसके सिवा और भी एक रहस्यकी बात बतायी जाती है। आप ऐसी धारणा करें कि मानो भगवान् आकाशमें विराजमान हो रहे हैं और

हम मनसे उनका दर्शन कर रहे हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं और बादल जैसे जलकी वर्षा करता है तथा चन्द्रमा जैसे अमृतकी वर्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् आकाशमें स्थित होकर अपने गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। दया, क्षमा, शान्ति, आनन्द, समता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यकी अनवरत हमपर वर्षा हो रही है। जलकी जो वर्षा होती है, उसका तो आकार होता है, किंतु यह निराकार है। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृतकी वर्षा होती है, वह निराकार है, जैसे सूर्यका धूप निराकार है, सूर्यके धूपसे शीतकालमें धूपमें बैठनेसे शीतका निवारण हो जाता है; इसी प्रकार भगवान्‌के प्रभाव और गुणोंके समूहसे दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है। भगवान् हमलोगोंपर अपने गुणोंका प्रभाव डाल रहे हैं, यह समझकर हर समय हँसता रहे, प्रसन्न होता रहे। हर समय जो प्रसन्नता और आनन्द है, यह सब भगवान्‌से ही है। भगवान् हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें, शरीरके रोम-रोममें सब जगह शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान, चेतनता उत्तरोत्तर खूब बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार हम मनमें धारणा करें और मनसे परमात्माका ध्यान करें। परमात्माके ध्यानसे हमको प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसका हम अनुभव करें तो हमें प्रत्यक्ष लाभ प्रतीत हो सकता है।

इससे भी बढ़कर एक बात और है— जैसे कोई नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तो उसे यह नाना प्रकारका रंग-विरंगा संसार हरा-ही-हरा दीखने लग जाता है, यह चश्मा तो चढ़ता है नेत्रोंपर, ऐसे ही भगवद्भावका चश्मा चढ़ाना चाहिये बुद्धिपर । जैसे आँखोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ानेसे सारा संसार हरा-ही-हरा दीखता है, उसी प्रकार बुद्धिपर हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीख

सकते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हम जो दृश्यमात्र पदार्थोंको संसारके रूपमें देख रहे हैं, उसे भगवान्‌के रूपमें देखने लगें तो यह संसार हमको भगवान्‌के रूपमें ही दीख सकता है तथा चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ लेनेपर वह सब चेष्टामात्र भगवान्‌की लीलाके रूपमें दीख सकती है। फिर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो जो कुछ चेष्टा हो रही है, वह साक्षात् भगवान्‌की लीला हो रही है और वह लीला स्वयं भगवान् नाना रूप धारण करके कर रहे हैं। ऐसा समझ लेनेपर हमें हर समय प्रसन्नताका अनुभव हो सकता है; क्योंकि ये जितने भी मनुष्य हैं, सब भगवान्‌के परिकर हैं यानी भगवान्‌के साथ आये हुए हैं। भगवान् ही इनमें छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। हम भी इनमें शामिल हैं। हम सब मिलकर ही भगवान्‌के साथ क्रीडा कर रहे हैं। भगवान्‌की लीला हो रही है, ऐसा भाव हम धारण करें। जिस प्रकार गोपियोंको भगवान्‌के साथ गाने-बजाने और नाचनेमें प्रसन्नता होती थी, वैसी प्रसन्नता हमें भी हो सकती है। फिर चिन्ता, शोक, भय हमारे पास भी नहीं आ सकते। ऐसा आप अभ्यास करके देख लें। आपको इसमें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिल सकता है, प्रत्यक्ष आपकी उन्नति हो सकती है। जैसे

दूधमें उफान आता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष उन्नति देखनेमें आ सकती है। दूधके उफानमें तो पोल है, ऊपर-ऊपर तो उफान है, भीतरमें कुछ नहीं, थोड़ी देरमें दूधका उफान आकर दूध भी समाप्त हो जाता है; पर यह तो इस प्रकारकी उन्नति है कि वास्तवमें भीतरसे ठोस है, नित्य है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे प्रत्यक्ष जीवन बदल जाता है।

